" जिद्दू कृष्णमूर्ति के दार्शनिक चिन्तन के शैक्षिक निहितार्थ का आलोचनात्मक अध्ययन।"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय

से

शिक्षाशास्त्र में विद्या वारिधि (पी-एच0डी0)
उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध–प्रबन्ध
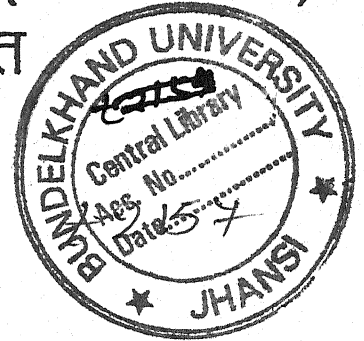
निर्देशक
डा0डी0एस0श्रीवास्तव
डायरेक्टर तथा अध्यक्ष
शिक्षा संकाय
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय
झाँसी।

शोधकर्ती
कल्पना पाण्डेय
एम0ए0(इति0) एम0एड0
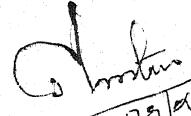
नवम्बर 2005

शिक्षा–संकाय
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

प्रमाण पत्र

मैं प्रमाणित करता हूँ कि कल्पना पाण्डेय ने ''जिद्दू कृष्णमूर्ति के दार्शनिक चिन्तन के शैक्षिक निहितार्थ का आलोचनात्मक अध्ययन'' विषय पर निर्धारित अवधि तक उपस्थित रहकर मेरे निर्देशन में प्रस्तुत शोधकार्य पूर्ण किया है। यह शोध कार्य बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी के शोध नियमों का अनुपालन करते हुए पूरा किया गया है। प्रस्तुत कार्य शोधकर्ती का मौलिक अन्वेषण है।

मैं इस शोध प्रबन्ध के परीक्षण की संतुति करता हूँ।

29/XII/05

डा0 डी0एस0श्रीवास्तव
डारेक्टर अध्यक्ष
शिक्षा संकाय,
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

आमुख

आज विश्व समृद्वि के शिखर पर पहुँचने के बाद भी अशांत ,आतंक, वैमनस्य और प्रति स्पर्धा तथा अहंकार से भरा हुआ है। वह इसका हल अपनी अपनी शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति के द्वारा खोजना चाहता है। इस हेतु उसने भौतिक साधनों के श्रेष्ठ सद्पयोग का तरीका अपनाया जो आन्तरिक जीवन को सुनियोजित करने की कला सिखाती है। मानव स्वभाव से प्रगतिशील रहा है, उसका मूल्यांकन उसके द्वारा किये गये कार्य एवं व्यवहार से होता है। उसकी अहमन्यता अपना उद्वत प्रदर्शन न कर पाये, इस हेतु तत्ववेत्ताओं ने मानवी मानोविज्ञान के आधार पर इस प्रवृत्ति को उत्कृष्टता के साथ जोड़ दिया है। परिणाम स्वरूप शिक्षा को व्यवहार परिवर्तन का साधन और शिक्षण को व्यवहार परिवर्तन की प्रक्रिया माना गया है।

भारत वर्ष को मानव सभ्यता, संस्कृति और शिक्षा में विश्व का धर्मगुरू माना गया है। उसने अपनी शिक्षा तथा ज्ञान को सम्पूर्ण मानव जाति के लिए विकसित किया, न कि भारतीयों के लिए। भारतीय दार्शनिकों तथा शिक्षा मनीषियों ने अपना सम्पूर्ण जीवन एक वैज्ञानिक की भांति शुद्व निरीक्षण ,अन्वेषण तथा यथार्थ की खोज में लगा दिया और एक सम्यक जीवन पद्वति का विकास किया। यही वे जीवन सूत्र है जो प्रत्येक मनुष्य को शांतपूर्ण, संतुष्ट और प्रेम पूर्ण जीवन यापन का रास्ता दिखलाते है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने अपनी शिक्षा पद्वति के द्वारा मानव मात्र में प्रेम, करूणा, समानता, संवेदनशीलता आदि से ओत प्रोत होना बतलाया है ताकि वह जीवन संघर्षमय कर्म है, इसको समझ सके। आपने लिखा है कि हम जीवन से क्या समझते है? क्या जीवन का कोई अर्थ या प्रयोजन है? क्या जीवन स्वंय उसका प्रयोजन उसका अपना अर्थ नहीं है?......... निसंदेह वह व्यक्ति जो समृद्वपूर्ण जीवन जी रहा है, वह व्यक्ति जो वस्तुओं को जैसी वे है देखता है और जो कुछ उसके पास है उससे संतुष्ट है वह व्यक्ति भ्रन्त नहीं है। वह स्पष्ट है, अतः वह यह प्रश्न नहीं करता कि जीवन का प्रयोजन क्या है? उसके लिए स्वंय जीना ही आरम्भ और अंत है।

वर्तमान परिस्थितियों में जे0कृष्णमूर्ति जी की शिक्षा सम्बन्धी विचार, उनका मानवीय चेतना सम्बन्धी दर्शन तथा भौतिकवाद के हल हेतु सुझाये गये शैक्षिक मूल्य आदि कितना तथा कैसा परिवर्तन स्थापित करने में समर्थ होते है? ताकि शिक्षा के द्वारा वर्तमान और भविष्य की समस्यायें जो मानव की अहं तुष्टि पर टिकी हुई, कितना हल प्राप्त कर पायेगी। आपने जीवन को एक कूप की तरह माना है जिसमें अथाह जल है। इस शिक्षा(ज्ञान) समान जल में से कोई थोड़ा सा प्राप्त करता है और कोई अधिक। यही जल उसे पोषित करता है, विकसित करने में सहायक होता है। व्यक्ति जब तक है वह तभी तक अन्वेषण करें और प्रत्येक वस्तु, विचार, भाव सम्बन्धी प्रयोग करें। शिक्षा के द्वारा युवकों को उपयुक्त व्यवसाय तथा दायित्वों को खोज ने में विद्यालय, शिक्षक तथा प्रशासन मदद करें, न कि उसके मस्तिष्क को गलत तथ्यों तथा तकनीकों से भरें। इस प्रकार से भय रहित जीवन को सुख तथा शांति के साथ शिक्षा के द्वारा विकसित किया जा सकता है।

प्रस्तुत शोधकार्य को पूर्ण करने में परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप से केई विद्वानों का सहयोग रहा है। सर्वप्रथम में अपने प्रथम शोध निर्देशक स्वर्गीय डा0बी0के0शर्मा की आभारी हूँ जिन्होंने मुझे क्रान्तिकारी महान चिन्तक जे0कृष्णमूर्ति जी के दार्शनिक तथा शैक्षिक विचारों के प्रति शोध करने का उत्साह प्रदान किया। उनके आकस्मिक निधन के पश्चात वर्तमान शोध निर्देशक डा0 डी0एस0श्रीवास्तव , निदेशक अध्यक्ष, शिक्षा संकाय, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी के प्रति मैं हार्दिक आभार प्रगट करती हूँ, जिनके तार्किक मार्ग दर्शन, स्नेह पूर्ण प्रेरणा से प्रस्तुत कार्य पूरा हो सका। आपके ज्ञान की गहराई तथा दार्शनिक तत्वों की पकड़ ने प्रस्तुत विषय को नया कलेवर दिया।

प्रस्तुत शोधकार्य में डा0ऋुति कुमार (स्वर्गीय) अध्यक्ष, शिक्षा विभाग, राजा बलबन्त सिंह कालेज आगरा, डा0रामशकल पाण्डेय(से0नि0)अध्यक्ष व प्रो0शिक्षा विभाग,इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद, डा0जे0पी0श्रीवास्तव(से0नि0) मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ, डा0 आर0आर0शर्मा अध्यक्ष शिक्षा विभाग, कानपुर विश्वविद्यालय कानपुर तथा प्रो0रमनबिहारी लाल(से0नि0) पूर्व डीन शिक्षा संकाय,
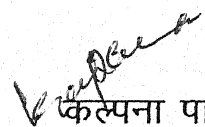
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी आदि प्रमृति विद्वतजनों की मैं आभारी हूँ जिन्होंने समय समय पर मेरे सोच एवं चिन्तन को सही दिशा एवं निखार दिया।

प्रस्तुत शोधकार्य में साहित्य उपलब्धता का परम सहयोग कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन,इण्डिया, राजघाट, फोर्ट , वाराणसी से सदैव प्राप्त हुआ, उनके समस्त अनुयायियों को मेरा आत्मिक नमन प्रस्तुत है ताकि उनके सहयोग तथा परम् आत्मा के प्रति मेरी सच्ची श्रृद्धांजलि अर्पित हो सके। इसके अतिरिक्त उन शोधकर्ताओं की मैं आभारी हूँ जिन्होंने भारतीय चिन्तकों के ऊपर शोध कार्य किये, उनसे मुझे अपने कार्य को तरासने की सही दिशा तथा सूक्ष्म निरीक्षण की अंतः दृष्टि मिली। इसके साथ ही मैं शिक्षा विभाग, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी के सम्मानीय प्राध्यापक वर्ग तथा पुस्तकालयाध्यक्ष की भी आभारी हूँ जहां से मौखिक तथा लिखित उत्तम सुझाव प्राप्त हुए, जिससे मैंने अपने चिन्तन तथा शैली में निखार तथा विचार में गहराई प्राप्त की, आदि को भी मैं आभार प्रदर्शित करती हूँ।

अंत में मैं अपने परिवार एवं प्रिय मयंक बाजपेयी(पति) की ह्दय से आभारी रहूँगी, जिनकी आत्मिक प्रेरणा और कदम्--कदम् पर प्राप्त सहयोग से इस स्तर पर पहुँच सकी तथा मेरा शोधकार्य इन्हीं की कृपाओं का फल है।

झाँसी

2005 नवम्बर

कल्पना पाण्डेय

विषय– सूची
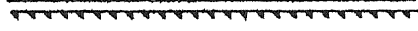
क्र0सं0	अध्याय		विषय	पृष्ठ संख्या
1.	प्रथम	–	प्रस्तावना	–
2.	द्वितीय	–	जीवन, शिक्षा एवं व्यक्तितत्व	–
3.	तृतीय	–	दार्शनिक चिन्तन	–
4.	चतुर्थ	–	शैक्षिक विचारधारा	–
5.	पंचम्	–	जीवन मूल्य	–
6.	षष्ठम्	–	निष्कर्ष एवं सुझाव	–
7.	संक्षेपिका			–
8.	सन्दर्भ ग्रन्थ, पत्र तथा पत्रिकायें			–

अध्याय– प्रथम – प्रस्तावना

1. प्रस्तावना

2. अध्ययन की आवश्यकता तथा औचित्य

3. समस्या कथन

4. अध्ययन के उद्देश्य

5. अध्ययन विधि, उपकरण एवं स्त्रोत

6. अध्ययन निदर्शन व क्षेत्र

7. सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण

8. अध्ययन योजना

प्रस्तावना

"आत्मा, बुद्वि के द्वारा प्रकाश को संकलित करती है और मन को विवक्षा से कहने की इच्छा प्रेरित करती है। मन, शरीर में स्थित ऊर्जा के ऊपर आघात करता है और वह ऊर्जा प्राण को उच्चारण के लिए प्रेरित करती है। शब्द प्राण का ही रूपान्तर है क्योंकि वह प्राण के बाग यंत्रों से टकराने से ही उद्भूत होता है और कान के द्वारा श्रवण गोचर होता है। मन, बुद्वि के द्वारा अर्थ प्रतीत कारक होता है, और पुनः आत्मा के द्वारा क्रिया में प्रयोजित होता है।"

उपर्युक्त "पाणिनीय शिक्षा" में वर्णित विचार का सारतत्व दार्शनिक चिन्तन में अंतः करण की अवधारणा को समझने में सहायक होता है। अंतःकरण, विचार के शब्द में परिवर्तित होने की और शब्द के द्वारा विचार के आकार ग्रहण करने की प्रक्रिया को समझने में सहायक ही नहीं अपितु अपरिहार्य है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि दार्शनिक अपने अंतः करण को प्रस्फुटित करके एक शिक्षक की भांति नवीन ज्ञान रेखा को प्रज्वलित करता है जो समाज एवं संसार को अनोखी मानवीय दृष्टि देता है। प्रत्येक राष्ट्र की पहचान उसकी शिक्षा प्रणाली तथा मूल्यों द्वारा स्थापित मान्यताओं से होती है। राष्ट्र को जीवित रखने के लिए सरकार का सुदृढ़ होना आवश्यक है, वैसे ही सरकार को जीवित रखना उसके रूप पर निर्भर करता है। इस प्रकार से शिक्षा का विकास(प्रणाली) सरकार की क्रियाशीलता और जागरूकता पर निर्भर करता है। नागरिक इसी जागरूकता या सक्रियता के फलस्वरूप स्वंय का, समाज का, और राष्ट्र का विकास करने में सहयोग प्रदान करता है। आज भारत देश में एक सशक्त जनतंत्र सरकार है जिसकी उपलब्धि एक नवीन तथा पूर्ण भारतीय शिक्षा प्रणाली का सार्वभौमिक विकास है। समाज से विलग किसी का "स्व" विकसित नहीं होता है। "रास" (प्र0 52, 1937) ने लिखा है" , जिस सामाजिक पर्यावरण में मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता है, उससे प्रथक रहने पर उसकी वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं रह जाता है, और उसका अस्तित्व निदर्शक हो जाता है। "अतः आज के विकासशील भारत में नवीन वैयक्तिकता का विकास करना, उभारना और मानवीय संवेदनाओं से ओत प्रोत करना शिक्षा का ध्येय बनाया गया है।

स्वतंत्रता के पश्चात, प्रारम्भिक तौर पर कुछ परिवर्तनों के साथ अग्रेंजी शिक्षा प्रणाली को ही सरकार ने अपनी शिक्षा नीति बनाया था। आज हमारी शिक्षानीति, पद्वति, शिक्षा आयोगों, समितियों, शिक्षा नीति (1986) संशोधित नीति (1992) के आधार पर विकास के उच्च वैज्ञानिक आधार प्राप्त कर रही है। " आज नवीन शिक्षाओं की अबधारणाओं से हमारी शिक्षा का ध्येय और अधिक परिवर्तनशील और कान्तिकारी हो रहा है। इसमें संस्थागत मूल्य , और प्रत्यावर्तित , मूल्यों का सभागम् किया गया है, जो नागरिकों को संतुलित , समायोजित और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास में सहायक होते है। " (एच0जी0गुप्ता, 1968 प्र0 186)।

मानव समाज में परिवर्तन किसी कानून, हथियार से नहीं हो सकता है, बल्कि शिक्षा के द्वारा ही होता है। इसमें शिक्षक की भूमिका प्रमुख होती है। " वास्तव में शिक्षकों पर प्रत्येक राष्ट्र को गर्व करना चाहिए, क्योंकि वे राष्ट्र के नागरिकों का निर्माण आवश्यकतानुसार करते है" (शमसुद्दीन, 1965, प्र0 95)। राष्ट्र का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि उनके शिक्षकों का चिन्तन कैसा है। हमारा सम्पूर्ण मानव समाज और उनका जीवन शिक्षकों के दार्शनिक चिन्तन की व्यवहारिकता पर निर्भर करता है। जैसाकि कथन से स्पष्ट होता है :– " शिक्षा प्रणाली की बृहत क्षमता और योजनायें पूर्ण रूप से अध्यापक की चिन्तन कुशलता और गुणों पर निर्भर करती है।" (महाजन 1965, प्र0 201)। इसी बात का समर्थन डा0कोठारी ने राष्ट्र के भाग्य का निर्माण कक्षाओं में होता हैं, किया है।

भारतीय या पाश्चात्य या कोई भी दार्शनिक विचारधारा व्यक्तित्व के अंतःकरण का प्रस्फुटन मात्र नहीं होती है बल्कि अंतःकरण के द्वारा कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की कार्यकुशलता का परिणाम होती है। अंतः करण का कार्य बाहय इन्द्रियों द्वारा मिले अनुभव का सामान्यीकरण करना होता है ताकि वह सबके लिए लाभकारी बन सके। अंतः करण का सबसे निचला स्तर "मन" होता है , जिसका कार्य सोचना, मनन् करना होता है। "मन" के ऊपर का स्तर "बुद्वि" का होता है जो मन में आये राग, द्वेष, घ्रणा, जुगुप्सा आदि में समयानुसार संशोधन करती है ताकि वे व्यवहारिक बन सके। बुद्वि भूतकाल की याद रखती है जो स्मृति होती है, वर्तमान के साथ गति करती है जो व्यवहारिक है

तथा भविष्य के साथ ज्ञान, प्रज्ञा का विकास करती है। इनमें ''प्रज्ञा'' मानवीय जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है जो पूर्व अनुभव और वर्तमान अनुभव के आधार पर भविष्यति की सम्भावना को देखती है। यह ''प्रज्ञा'' सभी प्राणियों में विकसित नहीं होती है क्योंकि इसके लिए प्राकतन संस्कारों की छाप आवश्यक है। यह प्रज्ञा ही स्मृति और गति का उपयोग करके सृष्टि या सृजन कार्य करती है।

सृजन कार्य चाहे विचार, कला , संगीत , साहित्य किसी भी क्षेत्र में हो, वह स्मृति , गति, प्रज्ञा तीनों को अति क्रान्ति करने वाली ''शुद्ध चैतन्य'' से भावित प्रतिभा है। अंतःकरण का एक तीसरा स्तर ''अहंकार'' या ''चिन्त'' भी होता है। ये दोनो अवस्था में शुद्व चैतन्य से प्रतिभाषित होती है , फिर भी उसका अवलम्ब भी है। इनसे शुद्व चैतन्य ढका रहता है और सामान्य के लिए व्यबह्त होता है। यही, आत्मानुभूति में बाधक होता है। अहंकार रूपी आवरण के छटने पर ही आत्मा और परमात्मा का भेद भी समाप्त हो जाता है। ''मन'' का अंतिम स्तर ''आत्मा'' का होता है। अहंकार या चिन्त की अवस्था ''ज्ञाता'' की होती है और आत्मा की अवस्था जानने की या आनुभविक जगत तथा आत्मा प्रमेय है। एक अन्य विचार धारा के अनुसार परमात्मा और ज्ञानात्मा के बीच संयोजक शक्ति जीवात्मा है। आत्मा स्थूल शरीर और उसके इन्द्रिय व्यापार का नियंत्रण है। अतः इनको दार्शनिक चिन्तन में अंतः करण चतुष्टय की संज्ञा दी गयी है।

दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में हम देखते है कि डैमॉक्रेट्स (यूनानी दार्शनिक) और कणादृ (भारतीय दार्शनिक) दोनो ने विश्व की संरचना की व्याख्या में ऐसे अणुवादी विचार दिये है, जिनमें पर्याप्त समानता पाई जाती है, इसी प्रकार शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त और ब्रेडले द्वारा प्रतिपादत दर्शन में विलक्षण साम्य देखा गया है। ज्ञान की अनेक विधाओं यथा शैक्षिक चिन्तन, कलागत चिन्तन, नीतिगत विचारों, धार्मिक चिन्तनों में भी साम्य देखे गये है और यह ध्यानेय है कि इस प्रकार के विचारकों के बीच देश और काल की दूरी भी अत्यधिक थी। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि जीवन, जगत, जीवन पद्वति एवं जीवन की अनेकानेक समस्याओं के सम्बन्ध में विराट विश्व के अन्तर्गत या तो विचारों की पुनरावृत्ति हुई है या पूर्व विचारकों के सिद्वान्त बीज

रूप में वर्तमान विचारकों के चिन्तन में वैसे ही प्रस्फुटित हुए जिस प्रकार से भूमि के अन्तर्गत छिपा हुआ बीज कालान्तर में एक विशाल वट वृक्ष वन जाता है।

मानव चिन्तन के क्षेत्र में यह स्वीकार्य तथ्य लगभग सभी महान विचारकों के लिए सिद्धान्त सा बन गया है कि दार्शनिक चिन्तन कभी भी विश्राम न पा सकेगाः क्योंकि वह उस अनन्त सत्य के मार्ग पर चल पड़ा है जो कभी चुकता नहीं है क्योंकि जो चुक जाये वह सत्य नहीं हो सकता है। यही कारण है कि मानव विकास के साथ–साथ विविध दिशाओं की ओर उन्मुख ज्ञान के क्षेत्र में विस्फोट होता चला जा रहा है। आज वैज्ञानिक चिन्तन के फलस्वरूप प्राप्त उपलब्धियां मानव चेतना को इतने वेग से झंकृत कर रही हैं कि वह दिशाहीन सी हो गयी है। यही कारण है कि हम ज्ञान की अनेक विधाओं के साथ–साथ मानवीय संस्कृति के प्राचीन रूपों को संक्रमण काल से गुजरता हुआ देख रहे हैं। हमारी शिक्षा, राजनीति, समाज दर्शन, मनोवैज्ञानिक उपलब्धियां , धार्मिक विश्वास, नैतिक मूल्य आदि सभी एक उत्कृष्ट संक्रान्ति से ग्रस्त हुए प्रतीत होते है। इसीलिए समस्त दार्शनिक चिन्तन को मानव जीवन और उसकी नियमित एक पहेली सी लगती है । इसी पहेली का समाधान प्रस्तुत करने के लिए मेधावी विचारकों ने अथक प्रयास किया फिर भी यह पहेली ही बना हुआ है।

इस सन्दर्भ में जे0कृष्णमूर्ति का नाम स्मृति पटल पर स्वमेव उदित हो जाता है। 20वीं शताब्दी का यह महान चितेरा स्वंय में इसलिए भाग्यशाली थाः क्योंकि उसने भूतकालीन सांस्कृतिक चिन्तन की अनेकानेक धाराओं से परिचय प्राप्त कर लिया था और साथ ही समसामयिक युग की चकाचौंध कर देने वाली वैज्ञानिक उलब्धियों से भी भिज्ञ था। जे0कृष्णमूर्ति ने मानव जीवन की सहस्यात्मकता को समझते हुए उसे अनादि और अनन्त जीवन प्रवाह का एक अंग माना है परन्तु उन्होंने वर्तमान संस्कृति में अभूतपूर्व क्षरण और टूटन देखकर एक नये मानव के सृजन की रूपरेखा के लिए अपना शिक्षा–दर्शन प्रस्तुत किया। बड़े उत्साह और गर्व के साथ उनके शिक्षा–दर्शन के सम्प्रत्ययों पर शोध कार्य किये जा रहे है और अभी तक अन्य शिक्षा मनीषियों से प्राप्त शैक्षिक सम्प्रत्ययों के सन्दर्भ में उनके विचारों की तुलना, समीक्षा एवं उपादेयता खोजी जा रही है।

इसमें संदेह नहीं है कि वे मौलिक विचारक के रूप में ख्याति अर्जित कर चुके है और उनके विचार जीवन के पारमार्थिक एवं व्यावहारिक सत्य के अधिक निकट प्रतीत होते है। यह भी सत्य है कि उनका प्रारम्भिक जीवन थ्सौसौफी की विचारधारा से अनुप्राणित किया गया ताकि वह थ्यौसौफीकल चिन्तन को एक अधिकारी गुरू की भांति समस्त विश्व में फैला सके : परन्तु कृष्णमूर्ति की विद्रोही चेतना थ्यौसौफी के मण्डल को लॉघकर स्वतंत्रभाव से विश्व में विचरण करती रही। उनके दार्शनिक साहित्य के अध्ययन से यह भी विदित हुआ है कि उन्होंने वेद, उपनिषद्, गीता या बौद्व दर्शन सहित अन्य देशी या विदेशी दर्शनों को नहीं पढ़ा, शायद यही कारण है कि वे न केवल अपने दार्शनिक चिन्तन में वरन् परम्परागत दार्शनिक शब्दावली के प्रयोग में भी परम्परा विरोधी बन गये। तभी उन्हें संस्था विरोधी कहा जाता है। उनकी इस मौलिकता की भूरि–भूरि प्रशंसा भी हुई है और यहां तक कहा गया है कि अगर थ्यौसाफी के दर्शन को विश्व विख्यात बनाने वाली महिला मेडम ब्लावट्स्की ने सत्य को तमाम प्रकार के अन्ध विश्वासों की आवृत्ति से मुक्त किया तो कृष्णमूर्ति ने उस सत्य को निश्चय ही अत्यन्त नग्न रूप में विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने का सराहनीय कार्य किया। इस दृष्टि से उन्हें वर्तमान शताब्दी का एक अनूठा विचारक माना जाता है। सत्य और उसका बोध किसी की पैत्रिक सम्पत्ति नहीं है ; न कोई देश या विचारक यह दावा प्रस्तुत कर सकता है कि सत्य के जिस रूप को उन्होंने प्रस्तुतकिया है वैसा अब तक किसी ने प्रस्तुत नहीं किया है। सत्य एवं तथ्य ऐसे तत्व है जिनका अभिव्यक्ति के कारण रूप बदला हुआ सा लगता है परन्तु सत्य स्वंय में अडिग, अटल और अपरिवर्तनशील रहता है। वह सत्य "नौ" ही रहता है इसीलिए भारतीय चिन्तन में "नौ" के अंक को ब्रहम का रूप माना गया है या ब्रहम की अपरिवर्तनशीलता को नौ के पहाड़े से समझाया जाता है। आशय यह है कि सत्य के गुणगान में भाषाओं के रूपान्तरण हो सकते है या ऐसा भी हो सकता है कि व्याख्याकार सत्य निरूपण में भाषा का समुचित प्रयोग न कर सकें।

धर्म शिक्षा, दर्शन तथा विज्ञान

दार्शनिक व्यक्तित्व में धर्म ,शिक्षा ,विज्ञान तथा दर्शन तीन प्रत्ययों का समागम् होता है। जे0कृष्णमूर्ति जी के व्यक्तित्व का विकास भी इसी का फल है, चाहे इनका प्रभाव प्रत्यक्ष रहा हो या अप्रत्यक्ष। अतः धर्म, शिक्षा,विज्ञान और दर्शन तीनों के सम्बन्ध पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

दर्शन और धर्म में समानता होते हुए भी भिन्नता है। इसी तरह से शिक्षा और धर्म में सम्बन्ध होते हुए भी अन्तर है। जिस संसार में हम सभी प्राणी जीवन व्यतीत करते है, उसके विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। विश्व की घटनाओं को चेतन शक्तियों की क्रिया समझना, या केवल एक शक्ति की क्रिया समझना धर्म का दृष्टिकोण है। संसार की घटनाओं को समझने के लिए चेतन तथा अचेतन दोनो प्रकार की शक्तियों के विषय में जानना दर्शन का दृष्टिकोण है। केवल जनशक्ति के आधार पर ही विश्व की व्याख्या करना विज्ञान का दृष्टिकोण हे। शिक्षा में हम बालक के व्यक्तित्व का विकास करना चाहते है। इस बालक में आवश्यकताओं की भूख भी है और मानसिक संतुष्टि भी। अतः सिर्फ विज्ञान की खोजे बालक को समझाने में असमर्थ है। दूसरी ओर धर्म—आत्म ज्योति में विश्वास करता है और इसे बुद्दि से अधिक महत्व देता है। दर्शन और धर्म दोनो अंतिम सत्ता को साक्षात देखना चाते है। अन्तर इतना ही है कि दर्शन का बुद्दि पर विश्वास है ओर बुद्दि जहां तक जाती है, वहां तक चिन्तन करके ही दार्शनिक ठहरना चाहता है, जबकि धर्म रहस्यात्मक ज्ञान एवं चमत्कारित ज्ञान तथा आत्म—ज्योति को बुद्दि से ऊँचा स्थान देता है। इस दृष्टि से शिक्षा, दर्शन के अधिक निकट है। शिक्षा में बुद्दि के महत्व को स्वीकारा जाता है और बौद्दिक भिन्नता के आधार पर ज्ञान प्राप्ति का परामर्श , निर्देश तथा सुझाव दिया जाता है।

परिणाम स्वरूप जे0कृष्णमूर्ति जी के दार्शनिक व्यक्तित्व में वैज्ञानिक दृष्टिकोण दर्शन का औचित्य और शिक्षा का व्यवहारिक पक्ष सम्मिलित रूप से दृष्टि गोचर होता है। थियोसोफिकल सोसायटी की विचारधारा का प्रभाव नगण्य सा हो गया है। अतः आपने एक मित्र , जो शिक्षक सलाहकार , दर्शनशास्त्री, निर्देशनकर्ता कोई भी माना जा सकता है के समान अपनी शिक्षा प्रणाली को पुस्तकों ,लेखों, प्रवचनों, वार्तालाप आदि के द्वारा विश्व को दिया।

अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व

प्रस्तुत अध्ययन की उपादेयता गुरू–शिष्य सम्बन्धों को सार्थक भावना से देखने में भी हो सकती है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने व्यक्ति को स्वंय का गुरू व शिष्य दोनो माना है। वे हमेशा गुरू–डम के विरोधी रहे है। वे स्वंय के अन्दर आन्तरिक दृष्टि को विकसित करना मानते थे जो सभी मान्यताओं , परम्पराओं तथा पूर्वागृहों से ऊपर उठकर स्वंय का मार्ग–दर्शक, और मित्र बनकर सहयोग करता है।

प्रस्तुत अध्ययन द्वारा व्यक्तियों का स्वंय ही विकास होता है जिससे वे स्वंय को संकलित व्यक्तित्व में परिवर्तित कर सकते है। प्रत्येक व्यक्ति अपने मन तथा हृदय से शुद्वता पाकर सदविचारों को अपने दैनिक व्यवहार में लागू करता है जिससे उसमें मानवीय गुणों का विकास होता है। यहीं मानवीय गुण है। इस प्रकार से उसमें सम्यक बोध, सम्यक दृष्टि का विकास होता है जिससे उसमें दया, करूणा और प्रेम का उदय होता है जो उसको सुख–शांति से जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरित करता है।

प्रस्तुत अध्ययन द्वारा व्यक्तियों में सामूहिकता के भाव की वृद्वि होती है जो प्रत्येक समाज के विकास के लिए आवश्यक है। इस हेतु जे0कृष्णमर्ति आचरण पर बल देते है । आचरण को जब समुचित रूप से जीवन में उतारा जाता है तो वह साधुता बन जाता है। यदि हमारे पास आचरण न हो, विचारशीलता न हो , भावना न हो तो साधुता हमसे दूर चली जाती है। साधुता का आशय मन और हृदय की मंगलमय अवस्था है जिसको स्थापित करने के लिए अच्छा आचरण आवश्यक होता है। इसी में स्वतंत्रता और अनुशासन का पूर्ण स्वरूप छिपा हुआ है।

आज केन्द्र सरकार ''संविदा सरकार'' के रूप में राष्ट्र की सेवा में तत्पर है। इसके सभी सरकारी सदस्यों द्वारा राष्ट्र का सर्वागीण विकास किया जा रहा है। इस सरकार के सभी सदस्य अपने 'अहंकार' को भूकर, पूर्वाग्रहों को त्याग कर समानता, स्वतंत्रता, भाईचारा तथा दया, ममता और करूणा के साथ कार्य करें तो राष्ट्र का समुचित विकास हो सकेगा।

आपके अध्ययन की सबसे बड़ी उपादेयता प्रत्येक व्यक्ति में प्रेम तथा सौन्दर्य मूल्य को स्थापित करना भी है। आपने सभी को समान महत्व दिया है। तुलना के द्वारा हम मानव जाति को बॉटते है। आज के संसार में आतंकवाद इसी लिये फैल रहा है कि हमने आपसी प्रेम व सौन्दर्य को सीमा में बांध दिया है। वास्तविकता , में अस्तित्व में हम सभी समान है , अतः प्रेम में वहिष्कार नहीं होता और न किसी भी प्रकार द्वेषभाव। आप सभी में मॉ जैसे प्रेम की आकांक्षा करते है, जो सभी बच्चों में समानता देखती है और सभी को समान महत्व देती है।

अमेरिका के राष्ट्रपति जान एफ0कैनेडी कहा करते थे कि संसार में तब तक शांति स्थापना नहीं हो सकती , जब तक मानव हृदय में शांति स्थापित नहीं हो जाती है। आज की मानवीय विषमताओं —पर्यावरण, धार्मिक उन्माद, जनसंख्या, कट्टर राष्ट्रवाद आदि के रूप में ज्वलंत है। इनका समाधान आपके चिन्तन की सार्थकता से ही सम्भव हो सकता है। अतः जे0कृष्णमूर्ति जी का चिन्तन, दृष्टिकोण, बेबाक शैली तथा मानव प्रेम हमें शांति तथा आनन्द प्रदान करता है।

जे0कृष्णमूर्ति ने विज्ञान के सतत् बढ़ते हुए चरण के युग में जन्म लिया था। आज मानवता वैज्ञानिक निधि से ओत प्रोत है ; लेकिन धर्म और नैतिकता अपने पराभव को प्राप्त है, जिसे नया जीवन प्रदान करने के लिए जे0कृष्णमूर्ति ने इहलोकवादी व्याख्या की है। आज पारमार्थिक प्रश्नों के समाधान में न उलझते हुए मानव जीवन को सही दिशा प्रदान करने में वैज्ञानिक मानसिकता अपनाये हुए मानव के वर्तमान आचरण पर बल प्रदान किया। यही कारण है कि जे0कृष्णमूर्ति अपने शैक्षिक चिन्तन में परम्परा विरोधी बन रहे है।

अतः इस अध्ययन की यही नवीनता और उपयोगिता होगी कि जे0कृष्णमूर्ति के दार्शनिक चिन्तन में शैक्षिक तत्वों की खोज की जाये और यह देखा जाये कि वर्तमान परिवेश में इसकी क्या संगति है। इस खोज के साथ ही दार्शनिक चिन्तन की ओर मानवीय अनुभूति की यह अवधारणा भी पुष्ट होगी कि परमार्थिक एवं व्यवहारिक सत्य सदैव अटल एवं अपरिवर्तनीय होते है। विचारकों के मत में इनका प्रगटन विविध रूपों, शैलियों और भाषायी परिधानों में हुआ करता है जिसकी पुष्टि उपनिषद की यह युक्ति चरितार्थ करती है कि "एक सद् विप्रा बहुधा बदन्ति" जो एक महान अनुभूत सत्य के रूप में अनादिकाल में प्रतिष्ठित है।

प्रस्तुत अध्ययन की सार्थकता इस तथ्य के उजागर करने में भी स्पष्ट होगी कि आज के भौतिकवादी, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक उन्नति से पीड़ित मानव को दिशा बोध किस प्रकार से जे0कृष्णमूर्ति का शिक्षा दर्शन कर सकेगा। इसके साथ ही यह भी सिद्व हो सकेगा कि किस प्रकार से वैदिक सत्य को नवीन कलेवर में आपने प्रस्तुत किया। जिससे आज के मानव को नई एवं भारतीय दिशा मिली। इसकी सार्थकता श्रीमद्‌भागवत् गीता में व्यक्त श्रीकृष्ण जी की वाणी की सत्यता की परिधि में आ जायेगा। उस समय आपका उद्‌बोधन था कि यह ज्ञान नया नहीं है, वरन आदिकाल में उन्होंने इसे सूर्य को दिया था, परन्तु कालान्तर में यह लुप्त हो गया है।

समस्या कथन

किसी भी मनीषी के दार्शनिक चिन्तन को स्पष्ट करने के लिए उससे सम्बन्धित विभिन्न पदों एवं प्रत्ययों की व्याख्या निम्न प्रकार से करते है :–

1. दर्शन– दार्शनिक चिन्तन को समझने के लिए हमें पश्चिमी दर्शन एवं भारतीय दर्शन दोनो को समझाना होगा क्योकि जे0कृष्णामूर्ति जी के जीवन पर दोनो का प्रभाव पड़ा है।

पश्चिमी दर्शन

1. प्राचीन काल :–

प्राचीन काल में दार्शनिक विवेचन का श्रेय पश्चिमी जगत में यूनान को है। रोमन विचार का भी आधार यूनानी विचार ही था। अतः प्राचीन दर्शन को ''यूनानी दर्शन'' के नाम से भी पुकारा जाता है। प्राचीन काल में भी हम तीन विभाग विशेष रूप से देखते है। एक समय तो सुकरात से पूर्व का है और दूसरा सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू का, तथा तीसरा समय अरस्तू से बाद और मध्यकाल से पूर्व का है।

सुकरात से पूर्व के दार्शनिकों में पैथागोरस, हिरैक्लिटस, पारमेनाइडीज एनैक्सैगोरस तथा प्रोटागोरस मुख्य थे।

1. <u>पैथागोरस–</u> पुनर्जन्म में विश्वास करता था और वह आत्मा को अजर अमर मानता था। कहा जाता है कि पैथागोरस समाज को कई विभागों में विभक्त करना पसन्द करता था। वह एक उच्चकोटि का धार्मिक व्यक्ति था तथा उच्चकोटि का गणितज्ञ भी। वह कहा करता था कि "सभी वस्तुए संख्याये है।" उसने गणित और ईश्वर सम्बन्धी विद्या में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया।

2. <u>हिरैक्लिटस–</u> सार्वभौतिक परिवर्तन में विश्वास करता था और वह कहा करता था कि "सभी वस्तुए परिवर्तित होती है " पश्चिमी दर्शन का जनक थेल्स कहा करता था कि विश्व जल से बना है और मूल तत्व जल ही है। हिरैक्लिटस ने अग्नि को मूलतत्व का गौरव प्रदान किया। परिवर्तन में हिरैक्लिटस का इतना विश्वास था कि वह प्रायः कहा करता था– " आप एक ही नदी में दो बार नहीं प्रविष्ट हो सकते है, क्योंकि आपके पास सदा ताजा पानी प्रवाहित होता रहा है।

3. <u>पारमेनाइडीज–</u> इसका कथन था कि कोई भी वस्तु परिवर्तित नहीं होती। हिरैक्लिटस सार्वभौतिक परिवर्तन में विश्वास करता था तो पारमेनाइडीज सार्वभौमिक , स्थायी एवं शाश्वत तत्व पर।

4. <u>एनैक्सेगोरस–</u> इसका कहना था कि सभी पदार्थ विभाज्य है और सभी अणुओं में प्रत्येक तत्व का कुछ न कुछ अंश अवश्य है किन्तु सभी पदार्थो में मनस तत्व का अंश नहीं हो सकता। एनैक्सेगोरस के पहले विद्वान लोगों ने दार्शनिक विवेचन में प्रमुख रूप से जगत को देखा था। वे प्राकृत जगत के विषय में जानना चाहते थे। इसलिए किसी ने उसे जल से , तो किसी ने अग्नि से, उत्पन्न बताया। किन्तु एनैक्सेगोरस ने कहा कि प्राकृत जगत के कारण के रूप में चेतन की आवश्यकता है। जगत का कारण जगत् में ढूंढना व्यर्थ है। इसके लिए मनस में आना पड़ेगा और उसने मनस् को ही गति का स्त्रोत बताया।

5. <u>प्रोटेगोरस–</u> इसका स्थान सोफिस्टो में मुख्य है। उसका यह कथन कि "मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदण्ड है– सम्पूर्ण पश्चिमी दर्शन में प्रमुख स्थान रखता रहा और शिलर जैसे व्यावहारिकता वादी ने अपने को प्रोटेगोरस का अनुयायी बताया। प्रोटेगोरस ने वस्तुनिष्ठ सत्य से इन्कार किया और सत्य को मनुष्य द्वारा निर्मित बताया।

यूनानी दर्शन का दूसरा उपविभाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसमें सुकरात प्लेटो और अरस्तू जैसे विश्व–विख्यात दार्शनिक आते है।

सुकरात के विषय में हम जो कुछ भी जानते है वह उसके शिष्य प्लेटो के संवादो के द्वारा जानते है। अतः यह कहना कठिन है कि प्लेटो के संवादों में ऐतिहासिक सुकरात के विचार किस सीमा तक स्पष्ट हुए है। अरस्तू, प्लेटो का शिष्य था। सुकरात, प्लेटो और अरस्तू ने दार्शनिक विवेचन के रूप में मुख्य रूप से विश्व और इसके चेतन मूलकारण के सम्बन्ध को स्वीकार किया।

(2) <u>मध्य काल :–</u>

पश्चिमी दर्शन के विकास क्रम में जब हम मध्यकाल में आते है तो "कैथोलिक दर्शन" का दर्शन करते है। प्लोटिनस, अरस्तू के बाद और कैथोलिक दर्शन के उदय के पूर्व हुआ था। प्लोटिनस तीसरी शताब्दी में हुआ था और अरस्तू एवं उसके पूर्व के आचार्य ईसा से पूर्व उतन्न हुए थे। प्लोटिनस तीन तत्वों को अनादित एवं अनन्त मानता था : (1) सर्वशक्तिमान तत्व, (2) अध्यात्म तत्व और (3) आत्मन् तत्व। इनका क्रम भी इसी प्रकार का उसने बताया है। सर्वोत्तम तत्व ईश्वर या शिवम् कहा गया है। उसके नीचे अध्यात्मक तत्व है। इसी तत्व के द्वारा एकम् (ईश्वर) देखता है। यह शिवम् की दृष्टि है। यह एकम् का प्रकाश है। उसके नीचे प्लोटिनस ने आत्मा माना हे। आत्मत् सभी जीवित पदार्थो का रचयिता और वह ईश्वरीय बुद्घि के द्वारा उत्पन्न है। आत्मत् में रचना करने की इच्छा होती है। प्लोटिनस के दर्शन ने लोगों का ध्यान अन्तदर्शन की ओर मोड़ा और उसने अपनी दृष्टि बाह्य जगत से हटाकर आन्तरिक जगत की ओर फेर ली। प्लेटो, अरस्तू आदि ने भी आन्तरिक जगत के महत्व को पहचाना था, किन्तु प्लोटिनस ने तो इसे अपने स्वभाव

का अंग ही बना लिया था। प्लोटिनस यूनानी दर्शन के अन्त में एवं ईसाई दर्शन के प्रारम्भ में हुआ।

पश्चिमी दर्शन का मध्यकाल धार्मिक दर्शन का काल है और इसमें ईसाई धर्म का दर्शन विकसित हुआ। इस काल में सेन्ट आगस्तिन और सेन्ट टॉमस एक्विनस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्लेटो तथा अरस्तू जब रचना की बात करते थे तो वे जगत के तत्व की भी पूर्व कल्पना कर लेते थे और उनका ईश्वर उपस्थिति सामग्री को केवल रूप प्रदान करता था किन्तु सनत अगस्तिन ने यह धारणा व्यक्त की, कि ईश्वर अभाव से अथवा शून्य से जगत की रचना करता है। वह ईश्वर को सर्व शक्तिमान श्रृष्टा मानता है और तत्वों का भी रचयिता मानता है। सृष्टि के साथ ही काल की भी रचना की गयी। ईश्वर शाश्वत है, उसमें पूर्व या अपर का प्रश्न ही नहीं है।

सेन्ट टॉमस एक्विनस ने तो घोषणाही कर दी थी कि मेरा उद्देश्य यह घोषित करना है कि– कैथोलिक धर्म जो कहता है वह सब सत्य है। इस दिशा में पहला पग है– ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना। एक्विनस ने अनेक प्रमाण देकर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्व किया है। वह पाप–पुण्य में विश्वास करता था और पाप से बचने का परामर्श दिया करता था।

(3) आधुनिक काल :–

15वीं शताब्दी से पश्चिमी दर्शन में आधुनिक काल का आरम्भ होता है। सन् 1509 में इरैसमस ने "मूर्खता की प्रशंसा" नामक पुस्तक लिखकर विवाह के दार्शनिक पक्ष की व्याख्या करने का प्रयत्न किया और कहा कि यदि मूर्खता इस संसार में न होती तो विवाह कौन करता? यह पुस्तक व्यंगयार्थ से भरी पड़ी है। अन्त में वह धर्म पर भी प्रहार करता है और कहता है सच्चा धर्म मूर्खता द्वारा ही सम्भव है। इरैसमस दार्शनिक कम और साहित्यकार आधिक था।

16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एंव 17वीं शताब्दी के पूर्वान्ह में बेकन ने अपने विचारो से पश्चिम को अत्यधिक प्रभावित किया। उसने सत्यान्वेषण के लिए वैज्ञानिक निरीक्षण पर बल दिया और कहा कि यथार्थ का ज्ञान अन्तदर्शन से प्राप्त न होकर बाह्य निरीक्षण से प्राप्त होता है।

आधुनिक दर्शन का जन्मदाता ''डेकार्ट'' माना जाता है। डेकार्ट दार्शनिक, गणितज्ञ एवं वैज्ञानिक था। उसने दर्शन को गणित की भांति एक निश्चित विज्ञान बनाना चाहा और इसीलिए उसने बिना प्रमाण की प्रत्येक बात पर अविश्वास प्रकट किया। किन्तु अविश्वास करते करते वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अविश्वास करने वाले के अस्तित्व से तो इंकार किया ही नहीं जा सकता, और तब उसने घोषणा कि–मैं चिन्तन करता हूँ , अतः मेरा अस्तित्व है। यह सत्य इतना स्पष्ट एवं ठोस है कि कोई सन्देहवादी इस पर अविश्वास कर नहीं सकता। इससे वह यह निष्कर्ष भी निकालता है कि जिन वस्तुओं का विचार हमारे मन में स्पष्ट होता है वे सत्य होती है। डेकार्ट ने पुद्गल तथा मनस् दो भिन्न तत्वों को मानकर द्वैतवाद का समर्थन किया।

स्पिनोजा ने डेकार्ट के द्वैतवाद को असन्तोषजनक कहा और एकत्ववाद का समर्थन किया। उसने ईश्वर को असीम एवं निरपेक्ष कहा है और मनस् तथा पुद्गल को ईश्वर के विशेष गुणों के रूप में स्वीकार किया है। वह ''संकल्प स्वातत्रंय'' में तथा ''संयोग'' में विश्वास नहीं करता था। उसके अनुसार सभी कार्य ईश्वरेच्छा से होते है। स्पिनौजा ने अनुसार द्रव्य तो एक ही है किन्तु गुण अनेक है। ये गुण असंख्य आकृतियों में अभिव्यक्ति होते है।

लाइबनिज– प्राकृत पदाथ्रे का विश्लेषण करते हुए अन्त में उस स्थान पर पहुँचा जहां से आगे विश्लेषण की गुंजाइश नहीं थी। अन्तिम सीमा को उसने– ''चित–बिन्दु'' का नाम दिया क्योंकि उसके अनुसार समस्त सत्ता–चेतन है। प्रत्येक चित्–बिन्दु को उसने विश्व का प्रतिनिधि माना। केन्द्रीय चित्–बिन्दु को उसने ''परमात्मा की संज्ञा दी। डेकार्ट द्वैतवादी था, स्पिनोजा अद्वैतवादी तथा लाइबनिज अनेकवादी था, किन्तु थे सब बुद्विवादी।

लॉक अनुभववादी था। उसने अपने विवेचन का विषय "ज्ञान" को बनाया लॉक के अनुसार हमारा सारा अनुभव इन्द्रिय–जन्य ज्ञान है और यह ज्ञान पदार्थो के गुणों तक सीमित है।

लॉक के अनुभववाद को बर्कले और आगे ले गया और उसने दृष्टि ही सृष्टि है कहकर अनुभूत पदार्थो का अस्तित्व अनुभूत होने में ही माना। लॉक विचारवादी था, बर्कले "नामवादी" हुआ।

डेविट ह्यूम, लॉक एवं बर्कले से भी आगे बढ़ा और उसने कहा– जिस प्रकार बाह्य पदार्थो गुणों के समूह ही है उसी प्रकार आत्मा भी चेतन अवस्थाओं का समूह ही है और कुछ नहीं। ह्यूम सन्देहवादी था, किन्तु प्रत्यक्ष को असंदिग्ध मानता था।

रूसो ने प्रकृति की ओर लौटो कहकर पश्चिमी दर्शन में क्रान्ति मचाने का प्रयत्न किया। कॉन्ट ने ज्ञान की परीक्षा करते हुए कहा कि हमें ज्ञान की सामग्री प्राकृत जगत से मिलती अवश्य है किन्तु उसे आकार देना मन का काम है। प्रकृति और मन के सहयोग से ज्ञान उत्पन्न हो सकता है , अन्यथा नहीं। हेगेल निरपेक्ष विचारवादी थे और उन्होंने कहा कि यथार्थ तत्व विवेकपूर्ण तथा बुद्वि ग्राह्य होता हे। शॉपनहार तथा नित्शे ने संकल्प–शक्ति के ऊपर विशेष रूप से विचार किया तो विलियम जेम्स तथा डीवी ने व्यावहारिकतावादी दर्शन को जन्म दिया।

जेम्स तथा डीवी को छोड़कर शेष आधुनिक पश्चिमी दार्शनिक यूरोप के है। प्राचीन काल में दार्शनिक विवेचन का केन्द्र "यूनान था" किन्तु आधुनिक काल में यूरोप को यह गौरव मिला, इसीलिए आधुनिक पश्चिमी दर्शन को "यूरोपीय दर्शन" भी कहा जाता है। प्राचीन काल में विश्व और उसके कारण के सम्बन्धं पर विचार हो रहा था: मध्यकाल में "आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का विवेचन" प्रमुख दार्शनिक कार्य हुआ तो आधुनिक काल में "पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध में समझने का प्रयास किया गया। आधुनिक पश्चिमी–दर्शन का प्रमुख विषय तत्व ज्ञान न होकर ज्ञान–विवेचन हो गया। प्राचीन एवं मध्यकाल में तत्व के स्वरूप को जानने का प्रयत्न किया जा रहा था आधुनिक काल में यह जानने का प्रयत्न किया गया कि जानने की सीमा क्या है? पाश्चात्य दर्शन के स्वरूप पर दृष्टिपात करने पर हमें ज्ञात होता है कि इसमें एक प्रकार का क्रमिक विकास है।

भारतीय दर्शन का सिंहावलोकन

पश्चिमी दर्शन का सिंहावलोकन कर लेने के पश्चात हम भारतीय दर्शन के स्वरूप को भी विहग्ंम दृष्टि से देखेगें।

भारतीय दर्शन की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म और व्यापक है। इसकी अनेक शाखायें है किन्तु प्रत्येक शाखा एक दूसरे से सम्बद्व है और प्रत्येक शाखा में अन्य शाखाओं के ऊपर भी विचार किया गया है। इस प्रकार प्रत्येक शाखा अपने आप में पूर्ण दर्शन बन जाती है।

भारतीय दर्शन की दृष्टि बड़ी उदार भी है। प्रत्येक दर्शनिक शाखा में अन्य शाखाओं के प्रति सम्मान प्रकट किया गया है और कड़ी ही उच्चकोटि की तार्किक भूमि में आलोचना प्रस्तुत की गयी है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत ही नहीं अपितु समस्त संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद ही है। भारतीय दर्शन का स्त्रोत वेद है। वेद कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है, वरन दर्शनों के आधार–भूत ग्रन्थ है। वेदों ने वाद के भारतीय दर्शनों पर अत्यधिक प्रभाव डाला और जिन्हें आज हम "षडदर्शन कहते है– वे सभी वेदों को मानने वाले है। कुछ दर्शन वेदों को नहीं मानते । ऐसे दर्शन तीन है– चार्वाक, बौद्व तथा जैन। इस दृष्टि से भी वेदों का महत्व है : अर्थात भारत में जो चिन्तन हुआ वह या तो वेदों के समर्थन के लिए या फिर खण्डन के लिए। वस्तुतः पहले "नास्तिक" शब्द वेदनिन्दक के लिए ही प्रयुक्त होता था वाद में इसका अर्थ " अनीश्वरवादी" हो गया। नास्तिक शब्द के पहले अर्थ में केवल चार्वाक , बौद्व तथा जैन दर्शन, नास्तिक " है और दूसरे अर्थ में मीमांसा और सांख्य भी आते है, क्योंकि ये भी ईश्वर को नहीं मानते। एक अन्य अर्थ के अनुसार "नास्तिक उसे कहते है जो परलोक में विश्वास नहीं करता है। इस अर्थ में षडदर्शन तथा जैन एवं बौद्व दर्शन भी आस्तिक दर्शन हो जाते है और केवल चार्वाक दर्शन नास्तिक है।

वेद वास्तव में एक ही है और उसी के चार वेद बन गये है जैसाकि सनत्सुजात के निम्नलिखित कथन से विदित होता है :–

"एकस्य वेदस्याज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः।"

अर्थात– अज्ञानवश एक ही वेद के अनेक वेद कर दिये गये है।

स्थूल दृष्टि से वेद को कर्मकाण्ड एवं ज्ञान–काण्ड में विभक्त किया गया है। कर्मकाण्ड में उपासनाओं का तथा "ज्ञानकाण्ड" में आध्यात्मिक तत्त्व का विवेचन है। देवताओं की स्तुतियों में अनेक मंत्र है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के 121वें सूक्त में हिरण्यगर्भ की स्तुति की गयी है। इस सूक्त से आध्यात्मिक चिन्तन का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। वेदों में ब्रह्य की व्यापकता एवं अनश्वरता के विषय में अनेक सूक्त है। अथर्ववेद के "स्कम्भ" सूक्त को ब्रहम की " व्यापकता एवं आत्मा की अभिन्नता का विवेचन है।

"ब्राह्मण तथा आरण्यक "संहिता एवं उपनिषदों के मध्यवर्ती काल के ग्रन्थ है। ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड का विस्तार से वर्णन किया गया है। इन दोनो ग्रन्थों में वर्णाश्रम, धर्म की प्रतिष्ठा कीगयी है। आरण्यकों में यज्ञ का तात्विक विवेचन किया गया है।

वेद के अन्तिम अंश–उपनिषद है। वैदिक मंत्रों को चार भागों में बांटा गया है– संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। प्रथम तीन भागों में स्तुति , उपासना, एवं यज्ञ का वर्णन है और इनमें तर्क–वितर्क का स्थान नहीं है। उपनिषदों में तर्क–वितर्क की प्रधानता है। उपनिषदों में आत्मा को पूर्ण, अखण्ड एवं अनश्वर बताया गया है। ब्रह्म के मूर्त एवं अमूर्त दो रूप बताये गये है। उपनिषदों के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य मोक्ष है।

श्रीमद्भगवद्गीता , नीतिशास्त्र का विश्वविख्यात ग्रन्थ है इसमें भगवान कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया है। गीता का मुख्य सन्देश निष्काम कर्म हैः अर्थात बिना फल की इच्छा किये हुए कर्तव्य करना चाहिए। आत्मा अजर–अमर है औ न तो इसको कोई मार सकता है और न ही यह

किसी को मार सकता है। गीता में ज्ञान, भक्ति एवं कर्म–तीनों मार्गो की महिमा बताई गयी है किन्तु निष्काम कर्म की सुगम एवं उत्तम साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। लक्ष्य के रूप में "मुक्ति " ही स्वीकृत है।

चार्वाक दर्शन भी भौतिकवादी दर्शन है। इसके अनुसार जड़–जगत ,सत्य है और यह वायु, अग्नि, जल, तथा पृथ्वी इन चार भौतिक तत्वों से बना है। चेतना की उत्पत्ति भौतिक तत्वों से ही होती है। आत्मा शरीर को ही कहा जाता है। शरीर के नष्ट होने पर चैतन्य जो भौतिक तत्वों का विशेष गुण है, नष्ट हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ नहीं बचता। केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और अनुमान आदि अन्य प्रमाण संदिग्ध है। परलोक, वेद, ईश्वर आदि को यह दर्शन स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार "जब तक जिए, सुख से जिए" का सिद्धान्त सर्वोत्तम सिद्धान्त है।

जैन–दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान एवं शब्द भी प्रमाण है। भौतिक जगत को जैन दार्शनिक भी चार्वाक की भांति वायु , अग्नि , जल तथा पृथ्वी इन्हीं चार तत्वों के मिश्रण से निर्मित मानते हे। इनके अतिरिक्त जैन दाशनिक अनुमान के द्वारा ज्ञातव्य , आकश , काल , धर्म तथा अधर्म को भी मानते है। जैन दार्शनिकों के अनुसार चैतन्य की उत्पत्ति जड़ पदार्थो से नहीं हो सकती। जैन धर्म के अनुसार जितने सजीव शरीर है , उतने ही चैतन्य जीव है। प्रत्येक जीव में अनन्त सुख पाने की क्षमता है। मोक्ष प्राप्ति सर्वथा सम्भव है। संसारिक बन्धन से छुटकारा पाने के लिए सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र–तीन उपाय बताये गये है। जैन ईश्वरवादी नहीं है। सभी के अनुसार हमारे विचार सीमित है। अतः अपने विचारो को व्यक्त करने के लिए "स्यात" जोड़ देना चाहिए जिससे अशुद्धि की सम्भावना न रहे। ये ब्राह्य जगत के अस्तित्व को मानते है तथा अनेक तत्वों को स्वीकार करते है।

महात्मा गौतम बुद्व के उपदेशों से बौद्व–दर्शन का जन्म हुआ । जरा रोग तथा मृत्यु को देखकर सिद्वार्थ अत्यन्त पीड़ित हुए थे और उन्होंने दृःखों से छुटकारा पाने का उपाय ढूँढने में ही वर्षो तक तपस्या की। अन्ततः उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया।

बौद्व–ज्ञान का सार चार आर्य–सत्यों में है। ये आर्य–सत्य है :–

1. दुःख है।
2. दुःख सकारण है।
3. दुःख सान्त है।
4. दुःख दूर करने का उपाय है।

जगत के सभी प्राणियों मे एवं सभी दशाओं में दुःख वर्तमान में है और इस दुःख का कारण है– क्योंकि कोई भी भौतिक, आध्यात्मिक वस्तु अकारण नहीं है। संसार की सभी वस्तुए परिवर्तनशील है। मरण का कारण जन्म है , जन्म का कारण तृष्णा है, और तृष्णा का कारण अज्ञान है। दुःखों के कारण यदि नष्ट हो जाये तो दुःख का भी अन्त हो जाएगा। चौथा सत्य ''दुःख निवृत्ति'' के उपाय के रूप में हैं

अष्टमार्ग दुःख दूर करने का उपाय है। ये आठ साधन है–

1. सम्यक दृष्टि
2. सम्यक संकल्प
3. सम्यक वाक्
4. सम्यक कर्मान्त
5. सम्यक आजीव,
6. सम्यक व्यायाम
7. सम्यक् स्मृति
8. सम्यक् समाधि।

इन आठ साधनों से अविद्या का नाश होता है और पूर्ण शान्ति मिलती है। इस अवस्था को ''निर्वाण'' कहते है।

अब षडदर्शन की परम्परा आती है। यद्यपि '' षड्दर्शन'' के विषय में मतभेद है किन्तु कुछ लोग न्याय, वैशैषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं वेदान्त को ''षड्दर्शन कहना पसन्द करते है। इन छहों दर्शनों का स्त्रोत वेद है।

(1) <u>न्याय</u> – यथार्थवादी दर्शन है। न्याय के अनुसार चार प्रमाण है– 1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान 3. उपमान तथा 4. शब्द। "मन" अणु के रूप में है। चेतना आगन्तुक गुण है। मृत्यु के पश्चात आत्मा चेतना–विहीन हो जाता है। आत्मा नित्य है किन्तु चेतना नित्य नहीं है। ईश्वर सृष्टि का सृष्टा, पालक एवं संहारक है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्व करने क` लिए नैयायिक ने अनेक युक्तियों दी है। संसार सुखमय है।

(2) <u>वैशेषिक</u> – न्याय के साथ वैशेषिक दर्शन की बड़ी समानता है। इसीलिए न्याय–वैशेषिक को एक जोड़े के रूप में देखा जाता हे। अपवर्ण प्राप्त करना–वैशोषिक दर्शन का भी लक्ष्य है। संसार की सभी वस्तुओं का वैशेषिक दर्शन में सात भागों में विभक्त किया जाता है जिन्हें प्रमेय कहते है। ये सात प्रमेय है– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, तथा अभाव। ईश्वर तथा अपर्ण के विषय में न्याय तथा वैशेषिक में पूरी समानता है।

(3) <u>सांख्य</u> – इस दर्शन के अनुसार दो मूलतत्व है– प्रकृति तथा पुरूष। दोनो की निरपेक्ष सत्ता है। पुरूष चेतना है, नित्यं है एवं पृथक द्रष्टा है। परूष एक नहीं अनेक है। संसार का आदि कारण प्रकृति है। यह नित्य है किन्तु चेतना विहीन वस्तु है। प्रकृति में परिवर्तन होता है। सत्व, रज तथा तम– इसके तीन गुण है। सृष्टि के पूर्व ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते है। कार्य एवं कारण में एकता होती है। कारण का विकसित रूप ही कार्य है। पुरूष के सहयोग से प्रकृति की साम्यवाद भंग हो जाती है। तभी जगत की सृष्टि होती है। पुरूष इसी शरीर में मुक्ति या कैवल्य प्राप्त कर सकता है। सांख्य दर्शन में ईश्वर को केवल द्रष्टा माना है, सृष्टा नहीं।

(4) <u>योग</u> – सांख्य और योग में बड़ा साम्य है। इसलिए सांख्य और योग का जोड़ा साथ चलता है। योग–दर्शन में ईश्वर को स्वीकार किया गया है। योग–दर्शन में योगाम्यास द्वारा विवेक की प्राप्ति को सम्भव बताया गया है। चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते है योग के आठ अंग– यम, नियम, आसन , प्राणायाम , प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि – बताये गये है। योग के अनुसार ईश्वर का ध्यान आत्म–ज्ञान के लिए आवश्यक है।

(5) <u>मीमांसा</u> – इस दर्शन में वैदिक कर्मकाण्ड़ का विवेचन किया गया है। मीमांसा के अनुसार वेद नित्य एवं अपौरूषेय है। वेद की प्रामाणिकता एवं अपौरूषेयता सिद्व करने के लिए मीमांसा में अनेक प्रमाण दिये गये है। वेद–सम्मत कर्म ''धर्म'' है एवं वेद द्वारा निषिद्व कर्म ''अधर्म'' है। आत्मा अनश्वर है। यह चेतन भी है। भौतिक जगत् की सत्ता को भी मीमांसा में स्वीकार किया गया है।

(6) <u>वेदान्त</u> – मीमांसा एवं वेदान्त को एक जोड़े के रूप में देखा जाता है इसीलिए कभी कभी मीमांसा को पूर्व–मीमांसा एवं वेदान्त को उत्तर–मीमांसा भी कहा जाता है। वेदान्त दर्शन का आधार उपनिषद है। वेदान्त के सूत्रों का चयन '' वादरायण'' ने किया है। वादरायण के ''ब्रह्ॅमसूत्र'' पर शंकरचार्य एवं रामानुजार्चा के भाष्य बड़े प्रसिद्व है। वेदान्त के अनुसार संसार का नानात्व मिथ्या है। अनेकता में एकता ही सत् है। यह सब कुछ ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिकत कुछ नहीं है। हम अज्ञानवश नानात्व का दर्शन करते है। अविद्या का नाश वेदान्त के ज्ञान द्वारा होता है। वस्तुतः आत्मा तथा ब्रह्म में भी अभेद है। ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। रामानुजाचार्य ईश्वर की पारमाथिकी सत्ता मानते है। किन्तु ईश्वर के अन्तर्गत अनेक सत्ताओं को वे स्वीकार करते है। वेदान्त दर्शन में शंकराचार्य का अद्वैतवादी तथा रामानुजाचार्य का '' विशिष्टाद्वैतवाद बहुत प्रसिद्व है।

षड्दर्शन का विकास सूत्रों के रूप में हुआ है। इन सूत्रों पर वाद में बातिकें लिखी गयी। शंकराचार्य रामानुजाचार्य, माध्व, निम्बार्क, वाचस्पति, उदयन आदि ने सूत्रों पर टीकाऐं की है। ये टीकाऐं भी दृष्टिकोण के भेद के कारण कुछ भिन्न हो गयी है।

भारतीय दर्शन अधिकतर संस्कृत में लिख गया है। बौद्व–दर्शन पाली एवं प्राकृत में है। आधुनिक युग में भी भारत में दर्शन के अध्ययन की परम्परा के दर्शन होते है। महर्षि अरविन्द ने जिस उच्च–साधना के द्वारा सत्य का दर्शन किया वह आज भी अनेक व्यक्तियों के लिए प्रेरणा का स्त्रोत बना हुआ है और पाण्डुचेरी आश्रम में मॉ के नेतृत्व में अरविन्द के स्वप्नों को साकार किया जा रहा है। डा0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन की व्याख्या अग्रेंजी में करके पश्चिमी जगत को यह अवसर प्रदान किया कि वह भारत की अक्ष्य निधि से परिचय प्राप्त करें।

पश्चिमी दर्शन एवं भारतीय दर्शन के स्वरूप का सिंहावलोकन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुॅंचते है कि दर्शन के अध्ययन–अध्यापन की परम्परा संसार भर में प्राप्त है किन्तु भारत का इस दृष्टि से विशेष स्थान है। यहां पर दर्शन को कोरी कल्पना की वस्तु न समझकर व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया गया है और सत्य का साक्षात् दर्शन करने का प्रयास हुआ है जिस ऋषि को सत्य का जैसा दर्शन हुआ , उसने वैसा ही कह डाला।

(II) मूल्य :–

दार्शनिक चिन्तन मूल्यों का निर्वहन, परिभार्जन तथा निर्माण करता है। अतः मूल्य की व्याख्या करना शोधकर्ता केलिए अवश्यक है। प्रत्येक क्रिया एक निश्चित मानदण्ड के अन्तर्गत घटित होती है। विभिन्न प्रकार के मानदण्डों में से एक मानदण्ड प्रमुख होता है। इसी प्रभावशाली मानदण्ड का अभिप्राय व्यक्ति के केन्द्रीय मूल्य से लगाया जाता है।

''मूल्य'' शब्द स्वंय में बड़ा ही व्यापक और बहुअर्थी है। इसका प्रयोग वैज्ञानिक , धार्मिक , कला , नैतिकता, दार्शनिकता आदि बहुअर्थी और जटिलता के सन्दर्भ में किया जाता है।

मूल्यों के स्वरूप के सन्दर्भ में भारतीय दार्शनिक संगठनों के अपने–अपने मत एवं राय है। चारवाक दर्शन ''हीडोनिजम'' और इपीक्यूरिज्म'' में विश्वास करता है।''हीडोनिज्म'' का विश्वास उन्हीं कार्यो और क्रियाओं को सम्पादित करना है जिनसे उन्हें आनन्द ही आनन्द प्राप्त होता है। ''इपीक्यूरिज्म'' का अभिप्राय पूर्ण–रूपेण इन्द्रीय सुखों का खोजना है। इन्होंने संसार के प्रत्येक कार्य को विषय वासना और भोग के निमित्त माना है। अतः चारवाक'' के अनुसार ''सुख या प्रसन्नता ही मूल्य होती है। जैन सम्प्रदाय के दार्शनिक ''जीवन मुक्ति'' और वैराग्य '' के भाव में विचरित रहते है ताकि वे अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित करके अस्थायी संसार से मुक्ति पा सकें। मानव मात्र की सेवा करना और भौतिकता से छुटकारा पाना ही ''बौद्व दार्शनिक'' का केन्द्रीय मूल्य माना जाता है। अतः प्रत्येक मतावलम्बी ने अपने अपने दृष्टिकोण से मूलय सिद्वान्त को स्पष्ट करने की कोशिश की है। (रेड्डी 1979)

"सांख्य दार्शनिकों" ने मूल्यों के विकासवादी प्रत्यय को माना है । वे मानव मात्र के विवेक, ज्ञान, जीवमुक्ति आदि को आत्मा के लिए आवश्यक मानते है। "वैसासिका" ने परमाणु विद्या के सन्दर्भ में उपयुक्त ज्ञान को मूल्य के रूप में स्थापित किया है। जबकि "योगदर्शन" ने अनुभूति के अष्ट पदो का मूल्यों के रूप में वर्णन किया है। योगशास्त्र में चित्तवृत्ति से ही मुक्ति के द्वारका खुलना बताया गया है। इसके द्वारा मानव स्वंय से परिचय प्राप्त करता है, साथ ही मानसिक सुधार लाता है। अतः चित्त की एकाग्रता ही मूल्य बन जाती है। "मीमांसा वेद" मानव की उस स्थिति या दशा का बोध कराते है जहां पर उसको सुख और दुःख की अनुभूति नहीं होती है। वेदो में यह स्पष्ट रूप से वर्णित है कि "स्मृतियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान से ही अन्तिम सुख प्राप्त किया जा सकता है। अतः उच्च्य सुखानुभूति. ही मूल्य कहलाता हैं "ब्रह्म के साथ "आत्मा" को जोड़ना या "आत्मा" को परमात्मा में विलीन कर देना ही भव बंधन से मुक्ति होता हे। इस प्रकार से वेदान्तों में ज्ञान को प्राप्त करना और अज्ञान को छितराना या समाप्त करना ही मूल्य का घोतक माना जाता है। मूल्य का अभिप्राय या रूप आत्मानुशासन , आत्मा की पूर्णता और आत्मा तृप्ति के समरुप माना जाता है। वास्तविकता के अनुसार भारतीय विचार संस्थाओं के द्वारा मूल्यों के स्वरूप का वर्णन भिन्नता लिये हुए है। इन विचारकों में भिन्नता होते हुए भी एक आदि सत्य प्रतीत होता हे। कि मूल्य अपने में पूर्णता लिये हुए है , वह आत्म खोज का साधन भी है और आत्मोन्नति का तरीका भी । अतः मूल्य का उपयोग उच्चतम मुक्ति हेतु किया जाता है जो मानव को मानसिक उन्नति की ओर अग्रसर करती है।

व्यवहारिक विज्ञान के अन्तर्गत मूल्यों के सम्पूर्ण पक्ष (विचार) का विकास किया गया है। यह वास्तविकता ज्ञान के विषयगत , बाह्यगत या आदर्श स्वरूप को स्पष्ट करते है। वास्तविक ज्ञान स्वंय में पूर्ण और संगठित होता है। इस प्रकार से व्यवहारिक विज्ञान ने मूल्यों को मानव के विभिन्न पक्षों के रूप में समझा है जैसे शारीरिक, प्राण सम्बन्धी , मानसिक और आध्यात्मिक, पूर्ण या सम्पूर्ण सिद्वान्त विकास के विभिन्न आयामों से जुड़ा है। शिक्षा और मूल्य ने इस परिस्थिति में एक दुर्गम

रास्ता खोजा है। शिक्षा एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मानी जाती है जबकि मूल्यों को मानव अस्तित्व के मनोवैज्ञानिक विकास और उन्नति का मानक माना जाता है। पूर्ण शिक्षा प्रणाली समाज के अन्तर्गत प्रचलित मूल्यों में परिवर्तन करती है और पूर्ण मूल्यों के द्वारा पूर्ण शिक्षा प्रणाली की प्रक्रिया को विकसत बनाने के लिए साधन प्रदान किये जाते है, ताकि वह संगठित और उन्नति शील प्रक्रिया बन सके।

अग्रेंजी भाषा की "बैवस्टर न्यू कालिजिएट डिक्शनरी, (1961, पृ0 940) में मूल्यों का वर्णन, "श्रेष्ठता के लिए गुण या तथ्य जो लाभकारी या आशातीत होता है " के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अतः स्पष्ट होता है कि मूल्यों के तहत व्यतीत होने वाला मानवीय जीवन सुन्दर और श्रेष्ठ होता है।

"रेंश्चर" (1969, पृ0–1) महोदय के अनुसार "मूल्य शब्द का प्रयोग परिस्थतिवश स्वतंत्र अर्थ में और परिवर्तित अर्थ में किया गया है।" दार्शनिक और समाजशास्त्री मूल्य , प्रश्नों से सम्बन्धित है, " वह आगे बढ़ता या चलता है।" इस प्रकार से मूलय की परिभाषा को अधिक सारगर्भित बनाया जाय ताकि बौद्विकता और वैज्ञानिक सन्दर्भो में उसकी प्रकित निश्चित की जा सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब सभी मतावलम्बी एक स्थान पर सहमति प्रकट करें, अन्यथा सभी सकारात्मक उपाय या प्रयास असफल सिद्व हो जाते है। आज तक मूल्यों की परिभाषा को सारगर्भित बनाने के लिए कोई भी प्रयास सफल नहीं हो पाया है, अतः स्वंय को ही एकता स्थापित करने के लिए पहल करनी होगी।

वस्तुतः मूल्यों के स्वरूप में भिन्नता या स्वतंत्र अर्थो का प्रयोग करने के सन्दर्भ में लेखकों और शोधकों ने कुछ उपयुक्त परिभाषाओं का वर्णन किया है। जैसा " कुर्ट बैर" (1969) ने सम्पादित किया है।

एक वस्तु मूल्यया मूल्यवान तब होती है, जब लोग उसके प्रति ऐसा व्यवहार करते है , ताकि उसे वे धारण अथवा उसके अधिकार में बृद्धि कर सकें। '' जार्ज लुन्डवर्ग।

'' कोई भी महत्व देने योग्य (इच्छित वस्तु) मूल्य'' है। (ई0डब्लू0बर्गेस)

'' प्रेरणा के अभिपालक मूल्य–वस्तु, गुण, या दशा जो अभिप्रेरणा को संतुष्ट करें। (लापियरे)

'' किसी भी आवश्यकता का कोई भी लक्ष्य मूल्य है। (बेकर)

'' मूल्य एक अभीष्ट अथवा ऐसी वस्तुत है, जिसकी कोई, किसी भी समय परिचालन निमित्त इच्छा करता है या चुनता है और जिसे प्रत्यक्षी बांछनीय कहता है। (स्टुआर्ड सी0डोड)

'' मूल्य वे नियामक मानदण्ड होते है , जिनके द्वारा मनुष्य अपने सामने उपस्थिति कार्य विकल्पों में से एक को चुनने का बाध्य होता है। (जे0फिलिबक)

'' एल्बर्ट और कलूकोहन (1957) ने एक लम्बे अरसे तक मूल्यों का अध्ययन किया ताकि उनके स्वरूप से सम्बन्धित विभिन्न विवादों को समाप्त करके एक ऐसी परिभाषा को प्रस्तुत करें , जो सर्व सामान्य को स्वीकार हो यानी सभी उससे सहमत हो।

'' मूल्य'' शब्द का अर्थ, व्याख्या, दार्शनिक , समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न रूपों में प्रस्तुत की है। उनमें से कुछ के विचार प्रस्तुत है :–

'' जुंग'' (1923) ने मूल्यों को व्यक्ति की ''तीव्रता का मापक'' माना है जो उसकी मनोशक्ति या क्षमता का प्रतिनिधित्व व्यक्तित्व तत्वों के गठन द्वारा होता हैं । उनका विचार है कि जब एक व्यक्ति किसी मुख्य भाव या विचार के प्रति उच्च मूल्य स्थापित करता है, तो एक निश्चित विचारात्मक शक्ति उसके प्रति, क्रिया करने को प्रेरित करती है।

'' आलपोर्ट '' (1931) एवं उनके सहयोगियों ने मूल्यों को मानवीय अभिरूचियों के प्रति स्थापित श्रेष्ठता , या व्यक्तित्व में प्रभावशाली अभिरूचि के अर्थ में प्रयोग किया है। वस्तुतः देखा जाये तो प्रभावशाली अभिरूचि मानव व्यवहार को प्रेरित, निर्देशित और उत्साहित करने में प्रमुख

भूमिका अदा करती है। अतः प्रभावशाली अभिरूचि के सन्दर्भ में मूल्य का प्रयोग हो सकता है। ''मरे'' (1951) ने मूल्यों को मानव आवश्यकताओं के साथ सम्बन्धित माना है ताकि वह अपनी बुद्विमत्ता का प्रदर्शन सही रूप में कर सकें, न कि खोज के एक अलग आयाम के रूप में। आवश्यकता के द्वारा मानव व्यवहार में मूल्यों का प्रगदीकरण होता है, और प्रकट हुई अवस्था धीरे–धीरे अवसान होती जाती है। उनके विचार से मूल्यों को प्रेरकों के किसी भी रूप या आयाम के प्रति सम्बन्धित समझना चाहिए।

''मूल्य सिर्फ तीव्र प्रतिष्ठा से ही नहीं आंका जाता है , बल्कि वह प्रतिष्ठा जो मानव समाज (नैतिकता) द्वारा सही सिद्व किया जाये या तर्क के द्वारा विवेचित हो , या सौन्दर्यात्मक निर्णयों के द्वारा निषकर्षित हो'' (क्लू कोहन, 1952 पृ0–396)

''पेरी (1954, पृ0–2–3) महोदय ने एक वस्तु और प्रत्येक वस्तु मूल्य रखती है या अपने उद्भव से ही मूल्यवान होती हे। उसका मूल्य स्वतः ही स्थापित हो पाता है यानी वह मूल्यवान मानी जाती है ''। ''मौरिस'' (1956 पृ0 9–12) महोदय ने मूल्यों '' को अधिक प्रतिष्ठा–वान व्यवहार का विज्ञान '' के रूप में परिभाषित किया है। आपने मूल्यों के सन्दर्भो में अधिक उपयुक्त धारणायें प्रस्तुत की है। प्रथमतः आपने ''<u>क्रियात्मक मूल्यों</u> (आपरेटिव वैल्यूज) पर प्रकाश डाला है। इसमें मानव शरीर एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु को महत्व देता है, जो पूर्णरूपेण उसके व्यवहार पर निर्भर करता है। ये सब कार्य क्रियात्मक मूल्यों के अन्तर्गत माने गये है। द्वितीय स्थान पर आपने '' <u>विचारात्मक मूल्यों</u> '' (कन्सील्ड वैल्यूज) को माना है। इसके अन्तर्गत प्रतीकात्मक वस्तु के रूप में व्यक्ति को प्रमुखता दी जाती है। अब हम कहते है कि ''ईमानदारी ही उत्तम विचार'' है , तो इसका अभिप्राय विचारात्मक मूल्य द्वारा ही निश्चित किया गया है। अतः हम ईमानदारी (प्रतीकात्मक वस्तु) को व्यक्ति का मूल्य मान लेते है। तृतीय स्थान पर आपने '' वाह्यगत मूल्य'' (आब्जेक्टिव वैल्यूज) माने है। इसमें व्यक्ति वाहयगत रूप से अपनी बात, क्रिया , राय आदि को महत्व देता है। चाहे वह क्रियात्मक हो , या विचारात्मक या अभिरूचि पूर्ण हो वह चिन्तित नहीं होता है।

मूल्यों को मानव व्यवहार को निर्देशित करने वाली संस्था के रूप में भी जाना जाता है। इसके अन्तर्गत मानव की इच्छानुसार व्यवहार को परिवर्तित या निश्चित किया जाता है। इसी लिए "बोरोनोस्की" (1959, पृ0–62) ने लिखा है , " मूल्य नैतिकता या चरित्र की यांत्रिक नियमावली नहीं है और न यह गुणों का लेखा जोखा मात्र है। मूल्य एक विचार या भाव है जो हमारे समाज में सामूहिक रूप से व्यवहार के प्रतिरूपों में पाया जाता है।

(III) शिक्षा :–

शिक्षा कोई निर्जीव प्रक्रिया नहीं है। इसमें गुरू और शिष्य के व्यक्तित्वों में अंतः क्रिया होती रहती है और सम्पूर्ण अन्तः क्रिया किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख होती है। शिक्षक और शिक्षार्थी एक–'दूसरे के व्यक्तित्व से प्रभावित होते रहते है और यह प्रभाव किसी दिशा की ओर स्पष्ट रूप से अभिमुख होता हे। शिक्षाशास्त्री डीवी कहते है– "छात्रों , अभिभावकों एवं शिक्षकों के मन में उद्देश्य हो सकता है, शिक्षा का कोई उद्देश्य नहीं हो सकता।" किन्तु अभिभावकों , छात्रों एवं शिक्षकों के तात्कालिक प्रयोजनों के पीछे एक सामान्य उच्च उद्देश्य की प्रेरणा विद्यमान रहती है और इसी दृष्टि से कहा जाता है कि शिक्षा का कोई न कोई उद्देश्य होता ही है। सम्पूर्ण शिक्षा–चक्र गतिमान है और उसकी गति किसी दिशा में ही हो सकती है। दिशा का निर्धारण लक्ष्य करता है।

शिक्षा का लक्ष्य यदि निम्न कोटि का बना दिया जाये तो उससे निम्न स्तर के व्यक्ति चाहे प्रेरणा ले लें किन्तु मेधावी व्यक्तियों की कल्पना की उड़ान के लिए काई क्षेत्र नहीं बचता, उनकी प्रतिभा के नष्ट होने का खतरा बना रहता है। जिन व्यक्तियों को आध्यात्मिक क्षुधा की अनुमति होती है उनकी आत्मा को कोई भोजन नहीं मिलता और उपयुक्त पाथेय के अभाव में आध्यात्मिकता के मार्ग का पथिक निराश होकर बैठ जाता है। इसीलिए भारतीय आचार्यो ने परामर्श दिया है कि भौतिक जगत के सुखों का नियमित उपभोग करते हुए, प्रकृति के नाना प्रकार के नृत्यों का

अवलोकन करते हुए, मानव अनुभव का आश्रय लेते हुए, समाज के कल्याण के लिए कुछ न कुछ कार्य करते हुए– ब्रह्मानन्द तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। यह आत्मानुभूति द्वारा सम्भव है , अतः शिक्षा का लक्ष्य उसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। हां, इस बात का ध्यान रहे कि इस मार्ग में चरण बढ़ाने के लिए प्रत्येक पग क्रम पूर्वक एवं सम्हालकर ही उठाया जाये।

अध्ययन के उद्देश्य :–

शोधकर्ता ने अपने शोध अध्ययन के लिए निम्न प्रकार के उद्देश्य निर्धारित किय है :–

1. जे0कृष्णमूर्ति जी के जीवन दर्शन को प्रस्तुत करना।
2. जे0कृष्णमर्ति जी के दार्शनिक चिन्तन को प्रभावित करने वाली पारिवारिक , सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन करना।
3. जे0कृष्णमूर्ति के दार्शनिक चिन्तन में अंतनिहित शैक्षिक बिन्दुओं को खोजना।
4. जे0कृष्णमूर्ति जी के शैक्षिक चिन्तन के निर्माण में अन्य दार्शनिक विचारों तथा तत्वों की विवेचना करना।
5. जे0कृष्णमूर्ति ने किस प्रकार से वैदिक सत्य (मूल्यों) को नवीनता देकर मानवीय मूल्यों की स्थापना की , का विवेचन करना।
6. समग्र अध्ययन के आधार पर शैक्षिक चिन्तन, को प्रस्तुत करना, ताकि मानवीय समस्याओं का निदान हो सके।

प्रयुक्त विधि, उपकरण व स्त्रोत

शोध विधि – प्रस्तुत अध्ययन ऐतिहासिक अनुसंधान का एक भाग है। किसी समाज का इतिहास प्रायः वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का आधार होता है। सामाजिक समस्याओं के समाधान में प्रयुक्त वैज्ञानिक विधि की अनुप्रयुक्ति ही ऐतिहासिक अन्वेषण है। ऐतिहासिक विधि के अन्तर्गत अतीत के

अनुभवों का अध्ययन किया जाता है तथा इसके द्वारा मानव विचार , व व्यवहार के उन विकास क्रमों की खोज करना है , ताकि उस समय की सामाजिक गतिविधि का आधार क्या रहा? पता चलता है। इस विधि का उद्‌देश्य शिक्षा सम्बन्धी दार्शनिक विचार धाराओं ,पद्धतियों , आवश्यकताओं तथा आदर्शो की जानकारी उपलब्ध कराना होता है। साथ ही , उनके सन्दर्भ में वर्तमान समय की समस्याओं , शिक्षा क्षेत्र की कठिनाइयों व व्यवस्थाओं आदि का सन्दर्भ निकालना होता है। परिणाम स्वरूप प्रस्तुत अध्ययन का उद्‌देश्य जे0कृष्णमूर्ति जी के शैक्षिक विचारों का वर्तमान की आवश्यकताओं के सन्दर्भ में मूल्यांवन करना है। अतः ऐतिहासिक विधि का प्रयोग सभीचीन है। इसके अतिरिक्त वर्णनामक , तुलनात्मक, तत्व , ज्ञान , व मूल्य मीमांसीय अध्ययन विधि का प्रयोग भी किया जायेगा।

<u>शोध उपकरण</u> – प्रस्तुत अध्ययन में उपकरण के रूप में शोधकर्ता अनेक साक्ष्यों , साधनों व अभिलेखों का प्रयोग करेगी। इनके द्वारा प्रापत जानकारी को यथार्थ रूप में जानकर, वर्तमान के परिप्रेक्ष में उपादेयता प्रस्तुत की जायेगी। इस प्रकार से जे0कृष्णमूर्ति जी के सम्बन्ध में दार्शनिकता तथा शैक्षिकता सम्बन्धी तत्वों का विवेचन किया जायेगा ताकि वर्तमान पीढ़ी उससे लाभान्वित हो सकें।

<u>अध्ययन स्त्रोत</u> – प्रस्तुत अध्ययन में ऐतिहासिक विधि के दो प्रमुख स्त्रोतो का प्रयोग किया जा रहा है :–

(1) <u>प्राथमिक स्त्रोत</u> – प्राथमिक स्त्रोत किसी भी ऐतिहासिक अध्ययन के मौलिक व मूल स्त्रोत होते है। यह विषय वस्तु के आधार तथा मूल भण्डार होते है। इनके अन्तर्गत जे0कृष्णमूर्ति के मूल अभिलेख, मौलिक कृतियां, लेखों , पुस्तकों , अभिभाषण ,संवाद , परिसंवाद , सुझाव आदि के अध्ययन को आधार बनाकर मौलिक तथा विशिष्टिताओं का पता लगाया जायेगा।

(2) <u>गौण स्त्रोत</u> :– गौण स्त्रोत को ही अप्रमुख स्त्रोत की संज्ञा भी दी जाती है। इसमें शोधकर्ती द्वारा उन उपकरणों व साधनों को शामिल किया जायेगा जिनका लेखक , दार्शनिक व शिक्षाशास्त्री स्वंय निर्माता नहीं होता है , बल्कि उनके विचारों व दार्शनिक चिन्तनों का वर्णन या लेखन अन्य व्यक्तियों द्वारा किया गया है। अतः शोधकर्ता महान आलोचकों व समालोचको द्वारा जे0कृष्णमूर्ति जी के सम्बन्ध में लिखे गये ग्रन्थों को शामिल करेगी ताकि अध्ययनोपरान्त उन ग्रन्थों की विषय वस्तु, दार्शनिक व्यक्तित्व तथा दर्शन व शिक्षणतत्व आदि को समझकर अन्तर्दृष्टि विकसित कर सके और अपने शोध को पूरा करके , सार्थकता प्रकट कर सके।

अध्ययन का निदर्शन व क्षेत्र

<u>निदर्शन</u> :– ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक शोधां के अन्तर्गत निदर्शन के रूप में जे0कृष्णमूर्ति जी द्वारा लिखित साहित्य तथा अन्य विद्वानों , शोधकर्ताओं द्वारा लिखित तथा अन्वेषित ग्रन्थों तथा साहित्य को शोध कार्य के निदर्शन का आधार बनाया गया है ताकि दार्शनिक के सभी पक्षों एवं तत्वों को स्पष्ट कया जा सके।

<u>क्षेत्र</u> :– जे0कृष्णमृर्ति जी महान क्रान्तिकारी विचारक दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री थे। आपने मानव जीवन के बहुआयामी पहलुओं, समस्याओं र अपने विचार व्यक्त किये है। उनका साहित्य अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। अतः शोधकर्ता ने प्रस्तुत शोध का क्षेत्र निम्नलिखित बिन्दुओं तक सीमित बनाया है :–

(अ) प्रस्तुत अध्ययन क्षेत्र में शोधकर्ता द्वारा जे0कृष्णमूर्ति जी के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन एवं मूल्यांकन किया जायेगा।

(ब) जे0कृष्णमूर्ति जी के जीवनदर्शन व शिक्षा दर्शन के क्रमिक विकास में तत्कालीन परिस्थितियों का क्या प्रभाव रहा है ? और इस प्रभाव ने इनके विचारों को किस प्रकार

प्रभावित व परिवर्तित करने में मुख्य भूमिका प्रस्तुत की है। इस तथ्य की खोज व जांच का प्रयास भी अध्ययन क्षेत्र में आता है।

(स) आपका व्यक्तित्व बहु–आयामी रहा है। अतः जीवन को प्रभावित करने वाले पारिवारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रभाव को क्षेत्र में रखा गया है।

(द) वर्तमान में प्रचलित शिक्षा दर्शनों (प्रकृतिवाद आदर्शवाद और प्रयोजनवाद) के तथ्यों का प्रस्फुटन जे0कृष्णमूर्ति के विचारों में कहां तक विद्यमान है तथा उनका प्रभाव आपके दार्शनिक व्यक्तित्व विकास पर कितना परिलक्षित हुआ है ? की खोज भी अध्ययन क्षेत्र में रखी गयी है।

(य) जीवन के मूल्य क्या है? मूल्य जीवन का उपयोग तथा व्यवहार परकता कैसे बताई गयी है। बुद्दि , मन , आत्मा, सत्य , सुन्दर एंव शिव क्या है ? आदि समस्त तथ्यों को व्यवहार परक बनाने का अध्ययन एवं अन्वेषण भी किया जायेगा।

(र) शिक्षा की पुनर्रचना तथा पुनर्गठन सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन आदि की जानकारी तथा तथ्यों की खोज का अध्ययन भी प्रस्तुत अध्ययन क्षेत्र में शामिल है।

(ल) शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, विद्यालय अध्यापक तथा अनुशासन आदि शिक्षा के क्षेत्रों को अध्ययन में समाहित किया गया है।

(ब) जनतंत्रीय सामाजिक प्रणाली वाले राष्ट्र में शिक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिए ? आपके विचार क्या है ? इन तथ्यों की जानकारी भी प्रस्तुत अध्ययन क्षेत्र में समाहित है।

सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण

जे0कृष्णमूर्ति जी के ऊपर भिन्न–भिन्न लेखकों तथा थियोसोफिकल सोसायटी से तथा आपके स्वंय के द्वारा लिखित तथा मौखिक संवादों से प्राप्त शैक्षिक तथा दार्शनिक चिंतन का अध्ययन किया जायेगा। ज्ञान का विकास शोध कार्यो के द्वारा ही होता है। प्रायः यह देखा गया है कि ज्ञान

का पुनरोत्पादन विगत शोधों तथा खोजों के संचयन के अध्ययन के आधार पर होता है। अतः इन तथ्यों का अध्ययन करना, आलोचनात्मक परीक्षण करना , वर्गीकरण करना तथा इनको विवेकपूर्ण ढंग से प्रयोग करना , विषय की सामान्य प्रकृति और मौलिकता को सुस्पष्ट करते है। साथ ही शोध पर अनावश्यक प्रभाव से बचा भी जा सकता है। अतः साहित्य का सर्वेक्षण नई समस्या के सन्दर्भ में प्रगति की तीव्रता को भी बढ़ाते है। अतः शोधकर्ता की सम्पन्नता में शोध कार्यो का अवलोकन करना शिक्षा का व्यापक प्रयोग है। जैसा "अल्तेकर" (1951 पृ0–3) ने लिखा है " व्यापक अर्थ में शिक्षा एक "स्वसंस्कृति और "स्वविकास" है और यह प्रक्रिया व्यक्ति के जीवन भर चलती है।

"बेस्ट (1977, पृ0 36–37) ने लिखा है " किसी समस्या के क्षेत्र की जानकारी से शोधकर्ता को यह मालूम करने में यह सहायता मिलती है कि प्रस्तुत क्षेत्र में क्या ज्ञात है। कितने प्रयास हुए और क्या प्रयास होने की सम्भावना है? या निराशा ही हाथ लगेगी तथा कौन–कौन सी समस्यायें अभी तक हल करनी शेष है? "इस प्रकार से किसी व्यक्ति के नियोजित शोध कार्य से सम्बन्धित शोध प्रतिवेदनों को मालूम करना, उनका अध्ययन करना तथा मूल्यांवन करना से होता है साथ ही साथ यह विचार, सिद्वान्त आदि का सही , सामायिक और वैज्ञानिक स्पष्टीकरण करने में भी सहायक होता है। इसके साथ ही शोध हेतु तकनीक ,तरीके, सामग्री, व्यवस्था आदि का निर्धारण करने में भी सहयता करता है। इस प्रकार से प्रस्तुत अध्ययन की वैज्ञानिकता तथा मौलिकता रहकर सही निष्कर्ष प्राप्त किये जाते है।

प्रस्तुत शोध जे0कृष्णमूर्ति जी के दार्शनिक चिन्तन मूल्य तथा शैक्षिक दर्शन का सम्मलोचनात्मक अध्ययन मात्र है ताकि उनकी शिक्षा पद्वति को वर्तमान की समस्याओं का समाधान

करने वाला बनाया जा सके। विगत शोध कार्यो का शोधकर्ता द्वारा अध्ययन किया गया तो पाया कि ''श्री अरविन्द जी पर ' अग्रवाल (1977) ''वास' (1978) नेहरू जी पर " अब्बासी " (1980), महावीरजी पर जैन (1980, ''विवेकानन्द'' पर ''दत्ता'' (1978), ''नायर'' (1980) बारवे (1983) ; दयानन्द " देव'' (1981) ; गांधी जी ''बी0आर0'' (1981) ; रूसों ''मनोचा'' (1981) , टैगोर ''पुरन्दर'' (1982, 1980) आदि मनीषी एवं चिन्तकों पर कार्य हुए है। जे0कृष्णमूर्ति जी पर सम्पन्न हुए शोधकार्यो में ''अम्यक'' (1982), व्यास (1986) , तिवारी (1989), शर्मा (1992) ; विश्वकर्मा (1995) आदि प्रमुख रहे है। आप लोगों ने जे0कृष्णमूर्ति जी को अपने समय का महान चिन्तक तथा शिक्षा शास्त्री माना है जो सम्पूर्ण मानव जाति के हित को सोचता है। शोधकर्ता ने प्रस्तुत समस्या में उनके व्यक्तित्व का विकास, चिन्तन निर्माण, मूल्य तथा दर्शन एवं शिक्षण को सामयिक परिवेश में देखकर अध्ययन किया है ताकि विश्व की आक्रामता, साम्प्रदायिकता, उच्च और निम्न का भाव सुरक्षा की समस्या तथा भूख जैसी आपदाओं को समाप्त करके मनोवैज्ञानिक विचारों से मानव की सहायता की जा सके।

अध्ययन–योजना

प्रस्तुत अध्ययन को शोधकर्ती ने छः अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय में शोध विषय की आवश्यकता , औचित्य , उद्देश्य, शोध क्षेत्र, उपकरण, स्त्रोत, न्यादर्श और साहित्य का सर्वेक्षण आदि को रखा है ताकि शोध विषय की वैज्ञानिकता तथा शोध प्रवृत्ति का सही पालन किया जा सके। इस प्रकार से ''शिक्षा दर्शन'' की स्पष्ट उपादेयता प्रगट हो सकी है।

अध्ययन के द्वितीय अध्याय में जे0 कृष्णमूर्ति जी के जीवन का वर्णन है साथ ही उनके व्यक्तित्व का एक चिन्तक, दार्शनिक तथा शिक्षा शास्त्री के रूप विकास किन कारणों, परिस्थितियों एवं प्रभावों से हुआ ; जिसने उनमें क्रांतिकारी विचारों का प्रस्फुटन किया।

अध्ययन के तृतीय अध्याय में शोधकर्ता ने उनके दार्शनिक चिन्तन का वर्णन किया है। यह चिन्तन उन सभी सामयिक समस्यायें का चितेरा है जो मानव के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित होते है। इसमें शारीरिक, मानसिक, बौद्विक, सामाजिक, धार्मिक , शैक्षिक तथा राजनैतिक आदि मानवीय सोच तथा विकास का वर्णन है। इससे उनके व्यापक सोच और चिन्तन के क्षेत्र का पता चलता है।

अध्ययन का चतुर्थ अध्याय उनके शैक्षिक चिन्तन एवं पद्धति का है जिसमें शिक्षा के प्रत्येक परिवर्ती पर विचार स्पष्ट एवं यथार्थ है जो वर्तमान शिक्षा प्रणाली के आधार तथा मानक बनाये जा सकते है। इनके अन्तर्गत आपने प्रत्येक परिवर्ती को सहभागी माना है ताकि बच्चों का विकास स्वाभाविक तथा मौलिक रूप से हो सके।

अध्ययन का पॉचवा अध्याय मूल्यविकास का है, जिसमें शिक्षा को मूल्यों का आधार बनाया जाये और आवश्यक मूल्यों की शिक्षा में समावेश कराके उनके व्यक्तित्व को ''स्व'' आधारित शेष दी जाये। शैक्षिक विचार मूल्यविहीन नहीं होते है। अतः मूल्यों का वर्णन करना आवश्यक हो जाता है ताकि शिक्षा का सकारात्मक पक्ष और उत्पादकता स्पष्ट हो सके।

अध्ययन के छठवें अध्याय में शोध निष्कर्ष का वर्णन किया जायेगा। इनमें प्रमुख निष्कर्ष , शोधार्थियों हेतु निष्कर्ष , तथा स्वमान्य निष्कर्षो का वर्णन होगा ताकि शोध कार्य की मौलिकता सिद्व हो सके। इसके पश्चात शोध के सुझाव तथा नवीन शोध क्षेत्रों को प्रदर्शित किया गया है ताकि जे0कृष्णमूर्ति जी के चिन्तन के अछूते पहलुओं पर भी अध्ययन किया जा सके।

सबसे अंत में परिशिष्ट का वर्णन है जिसमें शोध सहायक ग्रन्थ, पत्र , पत्रिकायें आदि की सूची सम्मिलित है।

अध्ययन– द्वितीय

जे0कृष्णमर्ति का जीवन एवं व्यक्तित्व

1. परिवार तथा शिक्षा

2. बहुआयामी व्यक्तित्व

3. वर्तमान परिप्रेक्ष

अध्याय–द्वितीय

जे0कृष्णमूर्ति का जीवन एवं व्यक्तित्व परिचय

वर्तमान समय में जीवन परिचय लिखना अथवा आत्मकथा का रिबाज बहुत बढ़ गया है, लेकिन भारतीय ऋषियों एवं मनीषियों ने आत्मकथा लिखने का परिचय नहीं दिया। इसीलिए वर्तमान समय के प्रसिद्ध दार्शनिक और सन्त, मार्गदर्शक 'श्री जिद्‌दू कृष्णमूर्ति का जीवन परिचय एक दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत है।

ग्यारह मई अट्‌ठारह सौ पच्चानवे (1895) को भारत के दक्षिण क्षेत्र में धार्मिक प्रदेश ''आन्ध्रदेश'' के चित्तूर जिले में एक गांव ''मदनपल्ली'' में आपका जन्म हुआ था। आपके माता पिता ''जिद्‌दू संजीवम्मा'' एवं ''जिद्‌दू नारायनीय ''थे। आप लोग बहुत ही धार्मिक स्वभाव के और श्रीकृष्ण के भक्त थे। इसके साथ ही साथ आप लोग पुराने ''थियोसोफिस्ट'' भी थे। आपका जन्म भगवान श्रीकृष्ण के प्रति भक्तिभाव और धार्मिक–वृत्ति के कारण माना जाता है। सम्भवतयः आपका जन्म श्रीकृष्ण जी के जन्म लेने की परिस्थति में आठवी संतान के रूप में हुआ था। सभी लोग आप को श्रीकृष्ण जी की प्रतिमूर्ति समझने लगे। इसीलिए प्रेम से इनको ''कृष्ण जी'' भी कहने लगे और आगे चलकर आप जिद्‌दूकृष्णमूर्ति के नाम से संसार में प्रसिद्व हुऐ।

अचानक माता संजीवम्मा का स्वर्गवास सन् 1905ई0 में हो गया। आपके पिता श्री के सामने बच्चों के पालन पोषण की समस्या उत्पन्न हुई, इसलिए सन् 1908 ई0 में आप बालक जिद्‌दू कृष्णमूर्ति सहित अपने चार पुत्रों को लेकर 'थियोसोफिकल' सोसायइटी मद्रास चले गये। उस समय श्रीमती एनीवेसेन्ट इस सोसाइटी की सर्वेसर्वा थी और यह ''अड्‌यार'' विशेष रूप से प्रसिद्व है। वहां पर रहने का आमंत्रण श्रीमती एनीवेसन्ट के आमंत्रण पर मिला था। अतः श्री जिद्‌दू नारायनी अपने इन बच्चों के साथ वहां पर रहने लगे और अपनी सेवायें सोसाइटी को समर्पित कर दी ; ताकि बच्चों का अच्छा पालन हो सके।

महान थियोसोफिस्ट श्री सी0डब्लू0लीडबीटर अड्यार में रह रहे थे जो पुर्नजन्म एवं पैरामनोविज्ञान पर विभिन्न प्रयोग भी कर रहे थे आपने बालके जे0कृष्णमूर्ति को देखा और विशिष्ट लक्षण पाये। इस बात की चर्चा आपने थियोसोफिकल सोसाइटी की तत्कालीन अध्यक्षा श्रीमती एनीवेसेन्ट से की , तथा आपने महसूस किया कि यह बालक अध्यात्मिकता से ओत–प्रोत है और भविष्य का एक महान आध्यात्मिक शिक्षक के रूप में संसार का मार्गदर्शन कर सकता है। थियोसाफिकल सोसाइटी की एक धारणा रही है कि सभी धार्मिक शिक्षकों में एक ही महान अस्तित्व "प्रभु मैत्रेय" की कृपा सदा से होती रही है। इस सोसाइटी के सदस्यों में यह विश्वास पाया जाता है कि दो हजार वर्ष के अन्तराल पर प्रभु मैत्रेय मानव शरीर में अवतरित होते है , और अपने सन्देशों और शिक्षा के द्वारा मानवता का उद्धार करते है। उनमें यह विश्वास भी है कि भगवान श्रीकृष्ण , भगवान बुद्ध और प्रभु ईसा मसीह आदि "प्रभु मैत्रेय" के ही अवतार है। इस लिए वे बालक जिद्दू कृष्णमूर्ति को प्रभु मैत्रेय के आगामी अवतरण को मानने लगे। परिणाम स्वरूप श्रीमती एनीवेसेन्ट ने उनके पिता जिद्दू नारायनी की सहमति से सन् 1909 में जिद्दू कृष्णमूर्ति एवं उनके छोटे भाई नित्यानन्द को विशेष संरक्षण में ले लिया। इस प्रकार से जिद्दूकृष्णमूर्ति को अध्यात्मिकता का प्रारम्भिक पाठ डा0एनीवेसेन्ट के मातृत्व प्रेम एवं श्री लीडबीटर के आध्यात्मिक संरक्षण के तले आरम्भ हुआ। इस प्रकार से बालक जिद्दू के पालन पोषण , शिक्षा और आध्यात्मिक विकास के सभी प्रबन्ध सोसाइटी के द्वारा सम्पन्न हुये।

जे0कृष्णमूर्ति की अध्यक्षता में जनवरी 1911 में अड्यार में "आर्डर ऑफ द स्टार इन दस ईस्ट " की स्थापना हुयी। इस संगठन का एक मात्र उद्देश्य यह था कि सभी सदस्य विश्व को " जगत गुरू" के आगमन के लिए तैयार करने के प्रति समर्पित रहे। श्रीमती एनीवेसेन्ट एवं श्री लीडबीटर की इसी अवधारणा के आधार पर धार्मिक शिक्षकों पर " प्रभु मैत्रेय" की कृपा होती रही। यह धार्मिक शिक्षक मानवीय रूप में जगतगुरू के लिए अवतरित होते है। इस प्रकार से "स्टार इन द ईस्ट" के सभी सदस्य इनको विशिष्ट दर्जा देने लगे और विश्वास करने लगे कि कृष्ण मूर्ति जी ही भविष्य के जगतगुरू है जो प्रभु मैत्रेय के आगामी अवतरण है।

"जगत गुरू" के रूप में प्रशिक्षित करने के लिए और व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने के लिए उनके छोटे भाई नित्यानन्द के साथ 1911 ई. को इग्लैण्ड भेजा गया। उनके व्यक्तित्व को इस प्रकार से शिक्षित और प्रशिक्षित किया गया कि वे पवित्र बने रहे और किसी भी प्रकार का दूषित प्रभाव उन पर न पड़े। लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका प्रवेश किसी शिक्षण संस्था में कराया गया और लंदन विश्वविद्यालय की परीक्षाओं की तैयारी भी करायी गयी क्योंकि श्रीकृष्णमूर्ति जी भविष्य में जगतगुरू की भूमिका निभायेंगे इस विचार को ध्यान में रखकर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश का विचार त्याग दिया गया। फिर भी दोनो भाइयों को शिक्षित करने के लिए व्यक्तिगत शिक्षकों की नियुक्ति की गयी , ये लोग पश्चिमी सभ्यता के ज्ञान के साथ–साथ आध्यात्मिक प्रशिक्षण भी देने लगे। श्री जे0कृष्णमूर्ति जी के व्यक्तिगत शिक्षकों में श्री सी0जिनराज दास , श्री जार्ज अरूण्डेल , श्री लीडबीटर के अतिरिक्त श्रीमती एनीवेसेन्ट तथा लेडी एमिली लुटयेन्स आदि प्रमुख थे। आप प्रथम विश्व युद्व के दौरान इग्लैण्ड में ही रहे और सन् 1920ई0 में पैरिस गये जहां आपने फ्रेन्च भाषा सीखी। सन् 1921ई0 की सर्दियों में श्रीमती एनीवेसेन्ट के साथ आप भारत आ गये और मद्रास में अड्यार आश्रम में सार्वजनिक वक्ता और प्रवचनकर्ता के रूप में उनका प्रशिक्षण प्रारम्भ हो गया।

जे0कृष्णमूर्ति के पिता जिद्दू नारायनी एवं डा0एनीवेसेन्ट के बीच बच्चों के विकास और संरक्षण की समस्या को लेकर मतभेद हो गया लेकिन बच्चों के निर्णय ने अपने पिता का संरक्षण अस्वीकार कर दिया और डा0एनीवेसेन्ट के संरक्षण में रहना जारी रखा। इसका प्रभाव आध्यात्मिक जगत के लिए शुभ रहा जिसके परिणाम स्वरूप जे0कृष्णकृर्ति का आध्यात्मिक शिक्षण और प्रशिक्षण चलता रहा और किसी प्रकार की रूकावट नहीं आयीं इस प्रकार से आध्यात्मिक गुरू की परिवशि निश्चित मानकों के साथ हुई।

भारतीय इतिहास एवं सम्भयता और संस्कृति में "गुरू" की बड़ी महिमा मानी गयी है। जे0कृष्णमूर्ति ने अपना गुरु किसको बनाया था ? उनका आध्यात्मिक गुरू कौन है ? इस सन्दर्भ में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। फिर भी "गुरू बिन होई न ज्ञान" वाली परम्परा को आपने

स्वीकार नहीं किया। लेकिन वे अपनी वार्ताओं में आध्यात्मिक गुरू का विरोध करते थे और गुरू को आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक नहीं मानते थे लेकिन आपने अपनी लिखी एक पुस्तक " ऐट द फीट आफ द मास्टर" में यह शब्द मेरे नहीं है , मेरे गुरू के है रूप में वर्णन किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि उनके आध्यात्मिक गुरू प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य रहे होंगे। इसी बीच उनके छोटे भाई नित्यानन्द का बीमारी के कारण स्वास्थ्य खराब रहने लगा और सन् 1922ई. में वे उनको लेकर कैलिफोर्निया चले गये। उन्होंने वहां की ओहाई घाटी में स्थिति "आर्य बिहार" नामक स्थान के "पाइन काटेज" में रहने की व्यवस्था की। वहां पर एक विशाल पीपल का वृक्ष था। अगस्त 1922ई. में उस पीपल के वृक्ष के नीचे उन्हें एक गहरी आध्यात्मिक अनुभूति हुयी। इस अनुभूति में उनके शरीर एवं मन को अत्याधिक प्रभावित किया। इसका वर्णन " मेरी लुटयेन्स " ने अपनी पुस्तक में किया है।

ओहाई घाटी में होने वाले आध्यात्मिक अनुभवों ने जे0कृष्णमूर्ति जी के विचारों में एक प्रकार का क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। उनका मोह और लगाव संसार से अलग होने लगा वे विरक्तता की ओर अग्रसर होने लगे। फिर भी अपने छोटे भाई नित्यानन्द के प्रति वे गहरा प्रेम रखते थे। जब जे0कृष्णमूर्ति जी भारत यात्रा पर थे उस समय 13 दिसम्बर 1925 को ओहाई में नित्यानन्द की मृत्यृ हो गयी । इस घटना ने इनके अन्दर विरक्तता को ओर बढ़ा दिया और वे सम्पूर्ण मानवता के दुःख दर्द को गहराई से महसूस करने लगे। इस प्रकार से वे सत्य की खोज में निकल पड़े और उनका साथ आध्यात्मिक अनुभूतियों ने दिया जिससे उनमें नवीन सत्य का संचार हुआ। आपने लिखा है " दिव्यता के प्याले में दुःख भी आश्चर्य जनक हो जाता है। मैने मानवता के दुःख दर्द के झरने का जल पी लिया है , इससे मुझे बड़ी शक्ति प्राप्ति हुई है। " आपने अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को "स्टार बुलेटिन (1931)" में व्यक्त किया है – "यदि आप जीवन को सही ढंग से समझते है तो मृत्यु भी पूर्णतत्व के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। जो परमानन्द है। मैने बहुत दुःख भोगे है , मैं अब सभी चीजों से पूर्णतय मुक्त हूँ जो मुझे अन्त तक बांधे रही। अब मैं अपने परम प्रियतम से जुड़ चुका हूँ। मैं मुक्त के सागर में प्रवेश कर गया हूँ और वह मुक्ति मैं ही हूँ।

सन् 1926 के लगभग जे0कृष्णमूर्ति अपनी थियोसोफिकल सोसाइटी के दर्शन और विचार प्रक्रिया से भिन्नता स्थापित करने लगे। आपने अपने व्याख्यानों में और वार्ताओं में विषय वस्तु का स्वरूप ही बदल दिया , इस का प्रभाव '' थियोसोफिकल सोसाइटी'' और ''आर्डर आफ द स्टार'' के संरक्षक लोग उनके प्रति सकारात्मक नहीं रहे क्योंकि अपनी वार्ताओं में वे सोसाइटी की बनावट एवं गुरू तथा सम्प्रदाय के मुखर विरोधी हो गये। जे0कृष्णमूर्ति ऐसा अनुभव करने लगे कि ''आर्डर आफ द स्टार '' के सद्स्य उनको गुरू की भांति चाहने लगे है जो उनके लिए एक मोहरुपी बन्धन विकसित हो रहा है । उनके संरक्षण में और मार्गदर्शन में '' आर्डर आफ द स्टार'' संगठन को संसार के विभिन्न लोगों से प्रचुर धन , सम्पदा और भूमि मिलने लगी। इस प्रकार से उनको यह महसूस हुआ , कि यह संगठन सत्य की खोज में बाधक है। इसी समय आपने तीन अगस्त 1929 को श्रीमती एनीवेसेन्ट एवं तीन हजार से अधिक सदस्यों की उपस्थिति में ''आर्डर आफ द स्टार इन दस ईस्ट '' संगठन को भंग कर दिया जिससे उनके अनुयायीयों को मानसिक कष्ट पहुँचा। इसी समय आपने कहा –

'' सत्य एक पथहीन भूमि है , किसी भी धर्म किसी भी सम्प्रदाय से आप वहां पहुॅच नहीं सकते.................. कोई भी मेरा शिष्य नहीं...................... कोई भी अन्य व्यक्ति आपको स्वतंत्र नहीं कर सकता। ''

जे0कृष्ण मूर्ति ने संगठन भंग करने के पश्चात सम्पूर्ण धन और भूमि उनके दाताओं को लौटा दी और हमेशा के लिए थियोसोफिकल सोसाइटी और उससे सम्बन्धित सभी संगठनों तथा विचारधारा से हमेशा के लिए सम्बन्ध तोड़ दिये इस प्रकार से आपने अकेले ही सम्पूर्ण मानव का दुःख दूर करने का वीणा उठाया। इसके प्रति संसार भर में विभिन्न प्रतिक्रियायें हुयीं , जिनमें कुछ लोगों ने इनकी प्रशंसा की और कुछ लोगों को दुःख हुआ। इसी समय एक संवाददाता ने आपसे प्रश्न किये– अब आप क्या करेंगें? आप जीवन यापन कैसे करेंगे? और लोग आपको नहीं सुनेंगे? आपने जवाब दिया '' यदि सुनने वाले केवल पांच ही लोग हो, जो सुने और जियें? और उनके चेहरे सत्य की ओर मुड़े हो तो काफी है। ऐसे हजारों लोगों के होने से क्या फायदा जो समझते ही

नहीं , पूर्वाग्रहों से चिपके रहते है नवीन परिवर्तन नहीं चाहते है बल्कि जो अपने निष्क्रिय और अहम के आधार पर नये का अर्थ लगा लेते है। ''

उनका विचार था कि सत्य की अनुभूति के साथ साथ समस्त मानव जाति के प्रति करूणा , दया और प्रेम का उदय होता है जिसके अन्दर मानव मात्र के लिए स्वभाविक प्रेम है वह लोगों को मुक्ति की ओर जाने की प्रेरणा देता है जो प्रतयेक मनुष्य के जीवन का उद्देश्य होता है। इसीलिए उन्होंने कहा है '' मेरा एक मात्र कार्य है लोगों को बिना शर्त पूर्णतयः स्वतंत्र कराना।''

द्वितीय विश्वयुद्व के समय जे0कृष्णमूर्ति कैलिफोर्निया में रहे. इसके पश्चात पूरी दुनिया का भ्रमण करते हुए विभिन्न प्रवचन और वार्तायें देते रहे। इस प्रकार से आपने सत्य के पथ प्रदर्शक और मित्र के रूप में लोगों से विभिन्न चर्चायें की और मानव प्रेम के प्रति उत्साह को जगाया।

जे0कृष्णमूर्ति अपने समय के महान , सत्य के अनवेषी थे उनकी महत्ता इस संसार में हमेशा बनी रहेगी । आपने संसार के विभिन्न भागों में विभिन्न वार्तायें आयोजित की और विशेष ढंग के विद्यालय स्थापित किये। वे प्रत्येक वर्ष अपने सभी विद्यालयों में जाते थे और विद्यालयों में विशेष प्रकार के शिक्षण पर ध्यान देते थे। उनके अन्दर एक प्रकार का आकर्षण था जैसे किसी पवित्र आत्मा में होता है। इसलिए सभी प्रकार के लोग उनके पास आते थे और अपने मन की पीढ़ा से मुक्ति पाते थे उन्होंने अपनी भूमिका के बारे में या संसार के प्रति वे क्या कर रहे है बताया है '' आपके जीवन के लिए मैं एक दर्पण का कार्य कर रहा हूँ उसमें आप जैसे भी है स्वंय को देख सकते है और तब आप दर्पण को फेंक दें। दर्पण महत्वपूर्ण नहीं है। ''

जे0कृष्णमूर्ति एक स्थान पर अधिक दिनों तक नहीं ठहरते थे और न वे राष्ट्र , जाति, संस्कृति आदि को विशेष दर्जा देते थे। वे हमेशा ''वसुधैव कुटुम्बकम्' में विश्वास करते थे। वे आजीवन बिना शर्त मनुष्य को मुक्त करने के दृढ़ निश्चिय पर डटे रहे। वे कहा करते थे कि हम ही विश्व है और अपने अन्दर हमीने गड़बड़ करने वाले राष्ट्रवाद, सम्प्रदायवाद, जातिवाद , लोभ और लालच आदि स्वार्थी तत्वों को विकसित किया। उन्होंने अपनी थियोसोफिकल सोसाइटी के उद्देश्य मानव मात्र की सेवा को ही एक शिक्षक की भांति संसार में फैलाया और आपने सम्पूर्ण संसार के लिए सत्य , अनुवेषक , शिक्षक के रूप में भूमिका निभाही।

सन् 1985ई. के नवम्बर माह में वे अन्तिम बार भारत आये उस समय विभिन्न प्रवचनों, वार्ताओं में मृत्यु विषय पर विशेष चर्चायें की और अपनी मृत्यु का आभास भी दिया। आपने नौ नवम्बर 1985 ई0 में बौद्धों की एक संगोष्ठी में अपनी मृत्यु पर प्रकाश डाला :– " हर व्यक्ति मरने वाला है, शायद मैं भी। मुझे पता है कि मैं मरने जा रहा हूँ। जैसा की आप सभी जानते है। डाक्टरों ने बताया है कि आपको कैंसर हो गया है और मैं पहली जनवरी तक जीवित रह सकता हूँ। वैसे मैं पहली जनवरी को मरने नहीं जा रहा हूँ, संयोगवश जनवरी के अन्त तक।" उपरोक्त आपके कथन से यह स्पष्ट होता है कि जे0कृष्णमूर्ति अपनी मृत्यु के बारे में जानते थे। उन्होंने डाक्टरों के अनुमान को गलत करते हुए जनवरी 1986 में बीमार हो गये। इस बीमारी का पता उनकी पाचन ग्रन्थियों में कैंसर के रूप में लगा । लगभग पांच सप्ताह बीमार रहने के पश्चात 17 फरवरी 1986 को कैलिफोनिया स्थित ओहाई के "पाइन काटेज" में निद्रावस्था में ही स्वर्गवास हो गया। जे0कृष्णमूर्ति अपने स्थूल शरीर से आज संसार में नहीं है लेकिन अपनी असाधारण प्रतिभा से शिक्षाओं के माध्यम से वे आज भी सम्पूर्ण मानव जगत को दिशा दे रहे है।

जे0कृष्णमूर्ति का बहुआयामी व्यक्तित्व

जे0कृष्णमूर्ति के व्यक्तित्व को विद्वानों ने बहुआयामी माना है। इस बहुआयामी व्यक्तित्व को निम्नलिखित आयामों में वर्णन किया जाता है :–

1. <u>मौलिक एवं क्रान्तिकारी विचारक :–</u>

जे0कृष्णमूर्ति अपने समय के प्रसिद्ध एवं क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के थे। वे संसार में अपने मौलिक विचारों के कारण जाने जाते है उन्होंने जीवन के प्रति नये दर्शन और दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। उनका कहना है कि " जीवन की किसी समस्या को होश पूर्वक देखों और उससे मुक्त हो।" यह [illegible] कोई बौद्धिक [illegible] नहीं है बल्कि जब मन और हृदय के हिसाब से अपने सम्पूर्ण अस्तित्व से हम [illegible] को [illegible] है तो हमे निदान मिलता है। इसके साथ–साथ उनके दर्शन में [illegible] और क्रिया कर्म को स्थान नहीं दिया। वे [illegible] को मानते थे। वे बराबर कहा करते

थे " देखों , देखने के अलावा ओर कोई रास्ता नहीं है उनका कहना है कि देखना स्वंय ही अपनी क्रिया को जन्म देता है , सिर्फ ध्यान की एकाग्रता होनी चाहिए। " इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि बिना दृष्टा , दृश्य के भेद होता है। वास्तव में जो हम देखते है वह हमारे मन की उपज है इसलिए मन ही दृष्टा और दृश्य में बंट जाता है। सही देखना वह है जहां न देखने वाला है न दृश्य है बल्कि शुद्व दर्शन है , बल्कि वही सत्य है , वही शिव है, वही सुन्दर है।

2. अनुशासन एवं स्वतंत्रता–

जे0कृष्णमूर्ति अनुशासन के किसी बन्धन में नहीं बन्धना चाहते है बल्कि पूर्ण स्वतंत्रता को ही ईश्वर की सेवा मानते है। 1961 में महान विचारक ऑल्डस हक्सले ने जे0कृष्णमूर्ति की वार्ता सुनी और अनुभव कया कि वह बुद्व को सुन रहे है । आपने अपनी पुस्तक " प्रथम एवं अन्तिम मुक्ति " के प्राक्थन में लिखा है " जे0कृष्णमूर्ति जो कुछ हमें देते है उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? वह क्या है जिसे हम उनसे ले सकते है लेकिन सम्भावना यह है कि हम उसे लेना पसन्द नहीं करेंगें। "जे0कृष्णमूर्ति न तो हमें मनुष्य और समाज के द्वारा बनाये विचारो , आदर्शो , विश्वासों और सिद्वान्तों को अपनाने के लिए कहते है और न कोई नेतृत्व और आध्यात्मिक निर्देश ही देते है वे सिर्फ स्वतंत्र रूप से अपने कार्यो को करने की जिसमें मानव मात्र का हित हो सत्य मानते है। आपने आत्मानुशासन को भी समस्या के समाधान का मार्ग नहीं माना, बल्कि उनके अनुसार वह समाधान तभी सम्भव है जब हमारा मन यथार्थ के प्रति जागरूक हो और बिना पूर्व धारणाओं एवं अनुशासनों के बाह्य एवं आन्तरिक विश्वों में जो दिया हुआ है। उसका सामना करने को तैयार हो। ईश्वर की सेवा में सत्यता है इसलिए हम किसी भी प्रकार से ईश्वर की सेवा करें जिससे स्वाभाविक और मौलिक सेवा होनी चाहिए न कि समाज द्वारा निर्धारित।

द्वेत से मुक्ति :– जब व्यक्ति अपनी एकाग्रता किसी विषय पर स्थापित करता है तो वह पक्ष और विपक्ष के द्वैत से प्रतिवद्व हो जाता है ; जबकि जे0कृष्णमूर्ति द्वैत से मुक्ति की बात करते है। जैसा आल्डस हक्सले लिखते है कि आतम अनुशासन उन वस्तुओं की सूची में आत्म है , जिसे वे हमें नहीं देते है। तो क्या वे हमें देते है उसे प्रार्थना कहा जा सकता है? इसका जवाब नकारात्मक ही

होगा। वस्तुतः प्रार्थना तो आपको वही उत्तर दे सकती है जो आप चाह रहे है। अतः आपका उत्तर आपके अनुभव , और अचेतन की तृष्णाओं पर आधारित होता है। यह उत्तर ईश्वर का स्वर तो नहीं है बल्कि स्थूल का स्वर है क्योंकि न तो आपने ईश्वर से प्रार्थना ही की है और न उससे निवेदन ही किया जा सकता है। ईश्वर तो सर्वव्यापी है वह पूजा पाठ और पुष्पों के अर्पण से प्रसन्न नहीं होता और न जो आपको मिलता है सत्य नहीं होता। जे0कृष्ण मूर्ति हमें ध्यान की एकाग्रता का वहिस्कार करने को कहते है इसमें हम एक विचार , मंत्र या प्रतीक को चुनकर एकाग्रचित होते है और अपने आप को एक बन्धन में बांध लेते है यह चुनाव व्यक्तिगत सुख पुरूस्कार और उपलब्धि पर आधारित होता है। इसके साथ ही लाभ यह चुनाव व्यक्ति की परम्परा और प्रतिबद्वता की प्रतिक्रिया भी हो सकती है। जब आप एक विचार को चुनते है दूसरे का वहिष्कार करते है तो संघर्ष के फलस्वरूप अन्तर में प्रतिरोध द्वन्द एवं कलह पैदा होती है , जिसमें आपकी सभी शक्तियां व्यय हो जाती है। इसमें दूसरी ओर यदि आप प्रत्येक विचार पर ध्यान दे तो बहिष्कार नहीं होता है। फिर भी बिना स्वार्थ की भावना के और बिना उद्देश्य के आप ध्यान को एकाग्र करें, तो उसमें दूसरा विचार प्रवेश नहीं कर सकता। जहां पर गुणदोष का निर्णय होता है या तुलना की जाती है , या विचार का तिरस्कार किया जाता है वहां पर मन की स्वतंत्रता नहीं होती। अतः जब हम पहले से निश्चय कर लेते है तो अन्तः निरीक्षण हमारी सहायता नहीं करता इस प्रकार हम द्वेत से सम्बन्धित हो जाते है। जब हम बिना किसी संकल्प के ध्यान लगाते है जिसमें कोई निर्णय नहीं होता वही हमें द्वेत से मुक्ति दिलाता है और मोक्ष की ओर ले जाता है। वास्तविक मुक्ति व्यक्ति की सृजनशीलता की स्वाभाविक स्वतंत्रता मात्र है। इसकी प्राप्ति हमें तभी हो सकती है जब हमारे विचार सांसारिक वासना, अज्ञान , और दुर्भावनाओं से मुक्त हो। प्रत्येक व्यक्ति इस सम्यक विचार का अनुभव ध्यान की एकाग्रता से कर सकता है।

4. <u>सर्वोपरि प्रेम</u> :–

जे0कृष्णमूर्ति मानवीय प्रेम के उच्चस्तर पर पहुँच चुके है। जब हमारे निःसंकल्प, आत्म अवधान हमें इस सर्जनशील यथार्थ तक ले जायेगा जो हमारे तमाम मिथ्या विश्वासों के पीछे छिपा

है फिर ज्ञान और अज्ञानों के पश्चात हम उस शान्त प्रज्ञा पर पहुँचते है जिसमें सदा प्रेम की धारा बहती रहती है। ज्ञान विभिन्न प्रतीकों का ही एक व्यापार है जो प्रज्ञा के लिए अवरोधक का कार्य करता है , जिससे हम "स्व" को अनावृत्त नहीं कर पाते। जो मन प्रज्ञा की शान्ति तक पहुँच गया है वही सत्य को जानेगा और सर्वोपरि प्रेम है जिसे पहिचानेगा। प्रेम न तो व्यक्तिगत होता है और न सामूहिक वह निरन्तर वहने वाली रसधार है जो सत्य है , असीम है और सर्वोपरि।

5. <u>प्रबुद्ध पुरुष :–</u>

ओसो रजनीश ने जे0कृष्णमूर्ति जी को एक जागृत प्रबुद्ध पुरूष माना है उनका कहना है कि "जे0कृष्णमूर्ति जी एक सदगुरू है जिनका आध्यात्मिक स्तर महात्मा बुद्ध , महावीर स्वामी , श्रीकृष्ण और जीसस क्राइस्ट , के स्तर का है। इस प्रकार के महान व्यक्ति आग्रह नहीं करते कि ऐसा होना चाहिए वे सिर्फ मानव मात्र के लिए जो शुभ हो वही कहते है। जे0कृष्णमूर्ति जब किसी व्यक्ति के सिर पर हाथ रखकर आर्शीवाद देते है तब उनका कथन होता है कि " जो शुभ हो वही हो जैसे– अगर जीना शुभ हो तो जीना हो, अगर मरना शुभ हो तो मृत्यु हो। "

6. <u>नकारात्मक सीखना :–</u>

जे0कृष्णमूर्ति की साधना पद्वति "अष्टावक्र" के समान थी। इसी लिए उनको "आधुनिक अष्टावक्र" कहा जाता है। साधना की सकारात्मक और नकारात्मक दो विधियां होती है । आज विभिन्न साधकों द्वारा सकारात्मक विधियों को फैलाया जा रहा है जो मानव विकास के लिए भ्रम के अलावा कुछ नहीं है। सकारात्मक विधि व्यक्ति को निश्चित दायरे में कैद कर देती है और वह निरूपाय हो जाता है इसीलिए जे0कृष्णमूर्ति जी ने नकारात्मक सीखना को सबसे उत्तम विधि माना है। जब हम एक–एक करके सभी विधियों को छोड़ देते है , इस प्रक्रिया को नकारात्मक विधि माना जाता है। यह विधि कोई आसान नहीं है इसमें धीरे–धीरे एक–एक से सम्बन्ध छुड़ाया जाता है जैसे– " यह देह में नहीं हूँ " अतः विभिन्न प्रकार के योगासन करना हमें छोड़ने पड़ेगें क्योंकि जब देह नहीं होगी तब योग विधि क्या करेगी। इसके बाद मैं मन नहीं हूँ , इसके लिये मंत्र बोलना जप करना और ध्यान की एकाग्रता से छुटकारा पाना होता है। इसके पश्चात आत्मा से

सम्बन्धित मोक्ष, कैवल्य और निर्वाण इनको व्यर्थ मानकर छोड़ देते है। इनके पश्चात सिर्फ एक शून्य बचा रहेगा जो मोक्ष अथवा निर्वाण माना गया है। अतः नकारात्मक विधि ही मनुष्य मात्र को निर्वाणतक ले जाने की एक मात्र विधि है।

7. <u>शिष्य परम्परा का विरोध :–</u>

जे0कृष्णमूर्ति जी, साधना पद्वतियों को व्यर्थ मानते थे यदि तुम सत्य की खोज करना चाहते हो तो अकेले ही प्रयास करो। आपको किसी गुरू या मार्गदर्शक की आवश्यकता नहीं है। यदि आपने मार्गदर्शक बनाया तो आपकी स्वतंत्रता समाप्त हो जायेगी। जब व्यक्ति सत्य तक स्वंय पहुँच सकता है जिसमें किसी विधि और साधना की आवश्यकता नहीं होती है , तो कृष्णमृति जी को गुरू क्यों बनाया जाये। इनके भाव को ओशों रजनीश ने बताया है कि " जे0कृष्णमूर्ति जब यह कहते है कि सत्य को तुम अकेले ही पा सकते हो। ऐसा इसलिए क्योंकि उनकी विधि एक अप्रत्यक्ष विधि है जिसमें वे आपकी मदद कर रहे है या नहीं आदि को जानने नहीं देगें और न तुमसे कहेंगे कि मेरे शिष्य बन जाओ। " चूंकि जे0कृष्णमूर्ति यह नही चाहते थे कि उनके चारो तरफ भारी भीड़ बनी रहे लेकिन उनके जीवन को देखने से स्पष्ट होता है कि उनके दर्शन का विकास उनके गुरू लोगों ने किया। इसके साथ ही साथ वे पश्चिमी देशों मे रहे जहां के लोग बहुत ही अहंकारी और घमण्डी होते है जो किसी के आगे समर्पण करने को तैयार नहीं होते है शायद इसीलिए जे0कृष्णमूर्ति ने प्रत्यक्ष गुरू के स्थान पर अप्रत्यक्ष गुरू पर बल दिया।

8. <u>करूणामय व्यक्तित्व :–</u>

जे0कृष्णमूर्ति सम्पूर्ण संसार के मनुष्यों से अतुलनीय प्रेम करते थे। उनके अन्दर दया एवं कल्याण की भावना प्राणी मात्र के लिए थी। इसीलिए वे मानव की सम्पूर्ण समस्याओं को गम्भीरता पूर्वक विचार करने को कहते है और उन्हें समस्याओं की जड़ तक जाने के लिए प्रेरित करते है। एक प्रश्नकर्ता ने मानवीय दुःख एवं दरिद्रता के प्रति उनका ध्यान आकर्षित किया। आज लाखो लोगों को पर्याप्त रूप से रोटी , कपड़ा और मकान उपलब्ध नहीं हो पा रहा है ऐसी विषम परिस्थिति में आपका आध्यात्मिक ज्ञान उनके लिए महत्व नहीं रखता। ऐसे जन समुदाय के लिए आपका क्या सन्देश है। इस प्रश्न के उत्तर में जे0कृष्णमूर्ति जी कहते है "इसे आप इस तरह

समझे अगर सड़क पर कोई दुर्घटना आपके सामने होती है और एक आदमी मोटर से कुचल दिया गया तो क्या आप अपने को आने वाली मोटर के आगे डाल कर समस्या का निदान कर सकते है? यदि आपके घर में कोई बीमार हो तो क्या आप स्वंय बीमार हो जाते है? नहीं आप ऐसा नहीं करते है। आप दुर्घटना को रोकने के लिए कानून बनाते है और लोगों को समझाते है कि लोग वास्तविकता को समझे और सावधान हो जायें। आप डाक्टरी सहायता का उपयोग करते है ताकि बीमार व्यक्ति उतना ही स्वस्थ्य हो जाये जितने की आप है। भोजन की समस्या का हल मुफ्त में भोजन मिल जाने से नहीं होता बल्कि हमें समस्या की जड़ में जाना होगा जिसके कारण समस्या जन्म लेती है। गरीबी की समस्या का मूल मानवीय स्वार्थ परता, प्रेमका आभाष , दया व करूणा का विकसित न होना , और कूर व्यवहार आदि है। जो ऐसी परिस्थिति पैदा करती है। अतः गरीबी दूर करने के लिए समस्या के मूल में जाना होगा जिसमें स्वतंत्रता , समानता , सहकारिता , भाईचारे का व्यवहार , दया और करूणा मानव मात्र के लिए हो इस प्रकार के दृष्टिकोण से समस्याओं का हल किया जा सकता है। बीमार होने पर डाक्टर बीमारी के एक लक्षण का इलाज नहीं करता बल्कि बीमारी को जड़ से पकड़ता है जिससे आप पूर्ण स्वस्थ्य हो जायें। इसलिए जे0कृष्णमूर्ति जी मानव मात्र का हृदय से कल्याण चाहते है ताकि वे स्वंय अपनी समस्याओं से मुक्ति का मार्ग ढूढ़ लें।

9. <u>मुक्त सन्त :-</u>

जे0कृष्ण मूर्ति हमेशा कहा करते थे कि " मैने मुक्ति खोज ली है और उस जग में प्रवेश किया है जहां सास्वत सुख है और मैं औरो को इसी दृष्टिकोण से समझने में मदद चाहता हूँ। वे समाज की परपम्पराओं , अंधविश्वासों , सिद्वान्तों , विचार प्रणालियों और धर्म सिद्वान्तों में विश्वास नहीं करते थे और सम्पूर्ण मानव जाति को इनसे मुक्ति दिलाना चाहते है। एक बार किसी व्यक्ति ने पूछा यदि कोई व्यक्ति आपको मार डाले तो क्या होगा। उसके उत्तर में वे कहते है " आह! मुक्त व्यक्ति को कोई मार नहीं सकता। आप भले ही उसकी ऑखे बाहर निकाल लें लेकिन वह अपने में मुक्त है , और कोई भी चीज उस मुक्ति का स्पर्श नहीं कर सकती। एक मुक्त सन्त जीवन और

मरण के पार होता है उसे अपने मृत्यु के पार के स्वरूप का बोध होता है। वह अहित करने वलो का भी वैसा ही कल्याण चाहता है जैसा हित करने वाले का। इससे स्पष्ट होता है कि जे0कृष्णमूर्ति के हृदय में मानव के प्रति अपार करूणा है , वे सुख दुःख से परे आनन्द मय जीवन जीते है।

जे0कृष्णमूर्ति ने लोगों को मुक्त करने में अपनी भूमिका को बताया है कि " आपके जीवन के लिए मैं एक दर्पण की भांति कार्य कर रहा हूँ , जिसमें आपकी प्रतिछाया वैसी ही दिखती है जैसे आप है। फिर आप दर्पण को महत्वहीन समझकर फेंक सकते है। " वे कहते कि " मैं आप लोगों में से प्रत्येक व्यक्ति को उन चीजों के बारे में बताना चाहता हूँ जिन्हें मैंने पाया है , वे पूर्ण है और उन्होंने मुझे शक्ति प्रदान की है जिससे मैं अपनी आन्तरिक दृष्टि को खोल सकूँ और सत्य के दर्शन कर सकूँ। यह आन्तरिक नेत्र जो आपके लक्ष्य की ओर जाने के लिए सहायता करता है वही नेत्र आपका सच्चा मार्गदर्शक , आपका शासक , और आपका मित्र हो सकता है। मैं आपकी केवल इतनी सहायता कर रहा हूँ आप स्वंय में अपनी समझ और बोध को जगा सकें , और उसका अनुसरण करें।

वर्तमान परिप्रेक्ष –

जे0कृष्णमूर्ति एक विशिष्ट प्रकार के सत्य को खोजने वाले और उस पर निरन्तर चलने वाले है। उनका महत्व एवं उपयोगिता सदैव अमर रहेगी। उनकी आवाज , शब्द चयन एवं शैली में सत्यता का आभास तथा खोज निरन्तर बनी रही है। उनको सुनने के लिए तथा चर्चाओं में भाग लेने के लिए अपार जन समुदाय उनके पास एकत्रित होता रहा है। उनकी वार्तायें लोकोत्तर अनुभव प्रदान करती है , जिनकी तुलना किसी अन्य से करना मुश्किल है।

जे0कृष्णमूर्ति ने वर्तमान की सामाजिक , धार्मिक तथा आध्यात्मिक मान्यताओं को नकारा और सबको स्वंय की आन्तरिक दृष्टि वाला नेत्र खोलने के लिए प्रेरित किया। यही आन्तरिक नेत्र उसका मित्र , शासक और मार्गदर्शक होता है , न कि कोई अन्य गुरू । वे गुरू–शिष्य परम्परा के सदैव विरोधी रहे , क्योंकि इसमें शिष्य गुरू बंधनों में जकड़ दिया जाता है और उसका "स्व" विकास

अवरूद्व हो जाता है। वे मानव मात्र की स्वतंत्रता के पक्षपाती रहे। आपने सदैव मानच मात्र का कल्याण मित्र के रूप में किया , न कि मार्गदर्शक के।

आप हमेशा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पालन करते रहे । उनका कहना था कि सत्य किसी से प्राप्त नहीं किया जा सकता है, उसे तो सम्बनधों के मानव दर्पण द्वारा अपने मनस तत्व के बोध तथा निरीक्षण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। आप पूर्व तथा पश्चिम दोनो की संस्कृतियों से परिचित थे । उनका अनुभव था कि सभी मानवों का स्वभाव एक जैसा ही है। प्रत्येक दुःख , संताप , घ्रणा तथा द्वेष आदि से ग्रसित है फिर भी सभी में सत्य की चाह विद्यमान है। अतः यथार्थ की प्रत्येक को चाह करनी चाहिए ताकि सत्य की खोज में आसानी हो।

वे जीवन भर मन की द्वैत भावना का विरोध करते रहे। उनके विचार से मनुष्य अपने जीवन को इसी भाव से नर्क बना लेता है। मनुष्य के विचारों और कर्मो का सामजस्य ढूंढता जा रहा है क्योंकि उसने भिन्न–भिन्न मापदण्ड बना लिये है , जो अपने लिये अलग और दूसरो के लिए भिन्न परिणाम स्वरूप वह अनचाहे दुःख और निराशाओं में फसा रहता है। वे कहते है कि जब तक मनुष्य के मन और ह्दय पवित्र, शुद्व नहीं होते तथा अपने सद्विचारों को वह अपने व्यवहार में लागू नहीं करता तब तक वह मनुष्य कहलाने लायक भी नहीं रहता है।

जे0कृष्णमूर्ति वर्तमान के जनतंत्रीय मूल्यों के समर्थक रहें उनका कहना है कि आत्म ज्ञान में ही मानवीय समस्याओं का समाधान छिपा है और उन्हीं से मानव हृदय में करूणा, दया, प्रेम, भ्रातृत्व आदि मूल्यों का बोध होता है जो सुख एवं शांति से जीवन जीने की प्रेरणा के स्त्रोत है। आप स्वतंत्रता के पक्षपाती थे लेकिन स्वेच्छा चारिता के विरोधी। आचरण में किसी भी प्रकार की असामान्यता का समर्थन वे नहीं करते थे , क्योंकि इससे समाज में अराजकता का प्रादुर्भाव होता है। उनका कहना है कि आचरण को जब समुचित रूप से जीवन में उतारा जाता है तो वह साधुता बन जाता है। यदि हमारे पास आचरण न हो , विचारशीलता न हो , भावना न हो तो साधुता हम से दूर चली जाती है। अतः साधुता की स्थापना से मन और हृदय की मंगलमय अवस्था को दैनिक जीवन में स्थापित किया जाना आवश्यक है।

मानव जीवन अमूल्य है। उसे उद्देश्यों को पूरा करने वाला व नाना प्रत्येक का परम् कर्तव्य है। इसकी पूर्णता प्राकृतिक दृष्टिगत सौन्दर्य में प्रेम स्थापित करके करनी चाहिए । वे सौन्दर्य के पुजारी थे। उनका कहना था कि सौन्दर्य तभी प्रकट होता है जब अहंकार का पूँर्ण रूपेण विसर्जन हो चुका होता है। सौन्दर्य की स्थापना तथा अनुभूति मानव मात्र में सत्य के प्रति उत्सुकता जागृत करती है जिसका आधार मानव मन की सम्यक स्थिति रहती है। मानवीय सम्बन्ध सहज और सौन्दर्य को विकसित करते है, अन्य कोई नहीं।

जे0कृष्णमूर्ति आदत निर्माण के खिलाफ थे क्योंकि इस पर पूर्वाग्रह का प्रभाव होता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में उनका विरोध साधना पद्वतियों के विरोध के रूप में परिलक्षित होता है। पद्धति समय की मांग करती है जिससे मानव एक यांत्रिक मशीन बनकर रह जाता है । वास्तव में जो व्यक्ति आन्तरिक दृष्टि को विकसित कर लेता है वह सत्य का अनुभव कर सकता है। जब कोई व्यक्ति दूसरों से तुलना करता है , दूसरों से प्रतिस्पर्धा करता है और महत्वाकांक्षी बन जाता है तो वह अपने मन को भ्रष्ट कर लेता है। जे0कृष्णमूर्ति के सन्देश में सभी के अस्तित्व की समानता देखने को मिलती है जिसमें हम बुद्विमान और मूर्ख में अन्तर नहीं करते है वहीं वास्तविक प्रेम होता है। जैसे एक मॉ अपने सभी बच्चों को समान महत्व और प्रेम देती है।

वर्तमान समय की वैज्ञानिक और भौतिकवादी विचारधारा ने समस्त संसार के सामने पर्यावरण का संकट उत्पन्न कर दिया इसमें नश्लवाल, वैचारिक भिन्नतायें और कट्टर राष्ट्रवाद ने मनुष्यों के बीच भंयकर संघर्ष उत्पन्न कर दिया है जिसका परिणाम विगत दो विश्व युद्वों में , इराक के विघटन में और अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के रूप में हमारे सामने है। जे0कृष्णमूर्ति इसका मुख्य कारण समस्याओं के गहराई में न जाना मानते है। किसी भी देश में जब हम परिवर्तन लाना चाहते है उसके लिए सबसे सुन्दर, सरल और अंहिसंक उपाय शिक्षा के द्वारा नागरिकों में परिवर्तन लाना है। क्योंकि मानव मन शान्ति की तलाश में भटकता है जिसकी दिव्यता का अनुभव हमें जे0कृष्णमूर्ति के दर्शन और विचारधारा से मिलता रहेगा।

अध्याय– तृतीय

जे0 कृष्णमूर्ति जी का दार्शनिक चिन्तन

1. मनसम्बन्धी विचार
2. आत्मा सम्बन्धी विचार
3. ध्यान सम्बन्धी विचार
4. सौन्दर्य सम्बन्धी विचार
5. ईश्वर सम्बन्धी विचार
6. धर्म सम्बन्धी विचार
7. काम भावना सम्बन्धी विचार

अध्याय–तृतीय

दार्शनिक – चिन्तन

शिक्षा शास्त्रियों तथा मनीषियों का मानना है कि किसी समस्या का तात्विक चिन्तन जो मानवीय हितों से सरोकार रखता हो , दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में आता है। दार्शनिक की सीमा सिर्फ मानवीय जीवन के स्थूल स्वरूप की व्याख्या ही नहीं करती बल्कि वह तो सूक्ष्म स्वरूप ,जीव तथा परमात्मा के स्वरूप का भी विश्लेषण करता है। परिणाम स्वरूप "दर्शन" के विचार के विषयों को (अ) बाह्य जगत (ब) जीव (स) परमात्मा आदि के रूप में माना गया है। वह इन तीनों के वर्णन के साथ साथ इनके पारस्परिक सम्बन्धों का भी वर्णन करता है। किसी भी महापुरूष के दार्शनिक चिन्तन पर विचार करने के लिए "दर्शन" शब्द को जानना आवश्यक होता है।

"दर्शन" का जनम "प्लेटो" आश्चर्य, कौतूहल, जिज्ञासा से मानता है। "देकार्ते" दर्शन की जन्म "सन्देह की भावना को मानते है तथा कुछ मनीषी इसका जन्म "मानसिक अशांति" से मानते है। निष्कर्षात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि जब तक मन में आश्चर्य संदेह, जिज्ञासा या अशांति की भावना नहीं आयेगी , तब तक दर्शन की समस्याओं पर व्यक्ति का ध्यान नहीं जाता है, अतः तभी दर्शन का जन्म होता है।

दर्शन का अर्थ :–

'दर्शन' शब्द 'दृश' धातु से बना है। इसका अर्थ होता है 'देखना। 'दृश' धातु में 'ल्युट' का प्रत्यय लगाने से दर्शन शब्द बनता है। अतः 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम् में' यानी 'जिससे देखा जाये। इस पकार से जो ज्ञान ऑख से देखकर सत्य का दर्शन करता है वही दर्शन कहलाता है। अग्रेंजी में 'दर्शन' को 'फिलॉसफी' कहा जाता है। फिलासफी शब्द का विकास यूनानी भाषा के दो शब्द 'फिलास' तथा 'सोफिया' से मिलकर हुआ है। 'फिलास' का अर्थ 'प्रेम या अनुराग' से होता है और 'सोफिया' का अर्थ– 'विद्या या ज्ञान' होता है। अतः पूर्ण अर्थ के रूप में 'विद्यानुराग' 'ज्ञानप्रेम' हुआ। इसी आधार पर 'सुकरात' ने सोफिस्टो से स्वंय को अलग करने के लिए स्वंय को 'फिलांस्फर' कहा था।

शिक्षा क्षेत्र में दर्शन ओर 'फिलांसफी' शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया है। वास्तव में इन दोनो शब्दों में अन्तर है। 'दर्शन ' में ज्ञान के प्रति केवल अनुराग नहीं है , क्योंकि अनुराग केवल भावात्मक प्रत्यय है। 'दर्शन' शब्द में मानसिक प्रक्रिया के तीनों पक्ष– ज्ञान, कर्म और भाव, निहित है। अतः 'सत्य' का साक्षात् 'दर्शन' करना 'दर्शन' है। जब सत्य का ज्ञान प्राप्त करना होगा तो सत्यान्वेषण होगा और ज्ञान तथा क्रिया साथ–साथ चलेंगे और ज्ञान के प्रति अनुराग भी होगा। अतः पाश्चात्य विचारक बिना लक्ष्य के चयन के विचार करना प्रारम्भ कर देता है ,जबकि भारतीय दार्शनिक जब चिन्तन करता है तो उसका लक्ष्य स्पष्ट होता है। इसीलिए दार्शनिक डा0सर्वपल्ली राधा कृष्णन ने अपनी पुस्तक "इन्डियन फिलासफी' में लिखा है– "दर्शन शास्त्र, यथार्थता के स्वरूप का तार्थिक विवेचन है।" इसी आधार पर डा0बल्देव उपाध्याय ने अपनी कृति "भारतीय दर्शन" में (प्र07–8) लिखा है :–

"फिलासफी कल्पना–कुशल कोविदों के मनोविनोद का साधन मात्र है। जगतीतल की अपूर्व, आश्चर्यमय वस्तुओं को देखकर उनके सहस्यों को जानने के लिए, "फिलासफी" की उत्पन्न बतलाई जाती है। प्रत्येक वस्तु की छानवीन करने में, मनमानी कल्पना करने का बाजार पश्चिमी दर्शन जगत में खूब गरम है। पश्चिम का तत्ववेता ,उस नाविक के समान होता है जो बिना किसी गन्तव्य स्थान के निश्चित किये ही अपनी नौका विचार सागर में डाल देता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं कि नाव किस घाट पर लगेगी। अगर वह कहीं अटक गई तो भी प्रसन्नता और किसी घाट पर लग गयी तो भी प्रसन्नता। पर भारत वर्ष में दर्शनकार आध्यात्मिक, अधिभौतिक और आदि दैविक (गमताप) आदि के विघात होकर उनके आमूल उच्छेद करने की भावना से प्रेरित होता है और साध्य का निश्चय अपनी सूक्ष्म विवेचना शक्ति के आधार पर करके ही वह साधन मार्ग की व्याख्या में प्रवृत्त होता है। प्रत्येक दर्शन के कर्ता का मार्ग तथा गंतव्य स्थान यथार्थतः विवेचित तथा निर्दिष्ट है। उसे अपने मार्ग से भटकने का थोड़ा सा भी डर नहीं है। अतः भारतीय दार्शनिक की दृष्टि पाश्चात्य दार्शनिक की अपेक्षा कहीं अधिक व्यवहारिक तथा लोकोपकारिणी, सुव्यवस्थित तथा सर्वांगीण होती है।

दर्शन के विभाग :–

पाश्चात्य दार्शनिकों ने 'दर्शन' के विभागों के रूप में 'आत्मा सम्बन्धी तत्वज्ञान, ईश्वर सम्बन्धी नीतिशास्त्र सौन्दर्य शास्त्र, तर्कशास्त्र, प्रस्तुत किया है। भारतीय विचारकों ने तत्वज्ञान के अन्तर्गत आत्मा, ईश्वर, सृष्टि, सत्ता आदि को माना है। ''ज्ञानशास्त्र को स्वतंत्र माना है। मूल्यशास्त्र के अन्तर्गत–नीतिशास्त्र , सौन्दर्यशास्त्र, और तर्कशास्त्र आदि आते है।

''दर्शन'' का व्यापक क्षेत्र है। ज्ञान विज्ञान का कोई भी क्षेत्र ''दर्शन'' के बिना स्वंय को सुव्यवस्थित नहीं कर पाता है। अतःडा0 रामशकल पाण्डेय ने शिक्षा–दर्शन को भी ''दर्शन'' के उपविभाग के रूप में माना है। इसके अन्तर्गत उठने वाली समस्याओं का रूप , विश्लेषण तथा समाधान निहित होता है। अतः प्रत्येक दार्शनिक विचारों का शैक्षिक महत्व स्वतः ही बन जाता है। प्रस्तुत अध्याय में शोधकर्ता जे0कृष्णमूर्ति जी के दार्शनिक चिन्तन एवं विचारों का क्रमबद्व तरीके से अध्ययन प्रस्तुत करती है।

मन सम्बन्धी विचार

जे0कृष्ण मूर्ति ने मनुष्य को मन का दास माना है। मन ही समस्यायें उत्पन्न करता है और समस्या समाधान में श्री कृष्ण जी ने गीता के माध्यम से मन को परिभाषित किया है। मनरहित ध्यान ही वास्तव में शान्ति और सुख का प्रदाता है। जे0कृष्ण मूर्ति ने बड़े व्यावहारिक ढंग से मन की समस्याओं और उसके आयामों के बारे में विचार प्रकट किये है।

शाश्वत की खोज – जब आप कहते है कि मैं स्थायी सुख खोज रहा हूँ , वह ईश्वर या सत्य हो सकता है। उस समय आप यह पता लगायें कि वह शक्ति या वस्तु कौनसी है जो खोज में लगी हुई है इस प्रकार से आप शाश्वत की तलाश कर पायेंगे। संसार के सभी मनीषी उस तथ्य की खोज में लगे रहे जो उनको शाश्वत जीवन, शाश्वत आनन्द और परमशक्ति का रसास्वादन करा सके। विभिन्न मतालम्बियों में इस शाश्वत आनन्द को सत्य, आत्मा, मोक्ष निर्वाण , और ईश्वर आदि अनेक नामों से पुकारा है। फिर भी हमने उसकी एक छलक नहीं देख पायी । इसके परिणाम स्वरूप मानव मनने ''आस्था'' को जन्म दिया जिसने विभिन्न सभ्यता और संस्कृतियों में हमे बांध

दिया। यहां पर जे0कृष्णमूर्ति जी कहते है " मेरा सुझाव है कि जो मानवीय मन शाश्वत की तलाश कर रहा है , सर्व प्रथम हमें उस मन को ही जानना है जो शाश्वत की खोज में लगा है।"

उपर्युक्त विचारधारा से स्पष्ट होता है कि यहां पर दृष्टा और दृश्य, विचारक और विचार और खोजने वाला तथा खोज का विषय दोनो एक ही होते है। जब हम गहराई में जाकर देखते है तो दृष्टा और दृश्य दोनो एक हो जाते है। इसीलिए उनका विचार है कि " यह आवश्यक है कि किसी स्थायी वस्तु को खोजने से पहले खोजने वाले को जाना जाये। क्या खोजने वाला उस वस्तु से भिन्न है जिसे वह खोजता है? क्या विचारक विचार से भिन्न है? क्या वे पृथक क्रियाये न होकर एक सम्मिलित घटना नहीं है?"

<u>जीवन का अर्थ एवं उद्देश्य–</u>

मानव समाज का जब से विकास हुआ है उसने जीवन क्या है? संसार क्या है? और मनुष्य का जन्म किस उद्देश्य के लिए हुआ है आदि प्रश्न उठते रहे है। इसलिए मानव को घटनाओं उद्देश्यों और प्रयोजनों के बारे में सोचने को बाध्य होना पड़ा। वह कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध जानना चाहता है लेकिन कुछ घटनायें ऐसी होती है जिनका न कोई कारण होता है और न कोई उद्देश्य जबकि कारण रहित वस्तु ही शाश्वत होती है। अधिकांश व्यक्ति धन , पद, प्रतिष्ठा , सुख भोग को जीवन का उद्देश्य मानते है या सत्य की खोज और मोक्ष की प्राप्ति जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते है लेकिन जे0कृष्ण मूर्ति जी का मानना है कि प्रत्येक मनुष्य का जीवन स्वंय में ही एक प्रयोजन है। जब हम जीवन का कोई अर्थ लगाते है इसका मतलब हम जीवन जीने की बजाय उससे पलायन करते है। जब हम प्रेम पूर्वक और करूणामय जीवन जीते है उस समय हम कोई उसका अर्थ या उद्देश्य नहीं खोजते लेकिन जब हम प्रेम विहीन जीवन जीते है तो उसका अर्थ और प्रयोजन खोजते है। आप का कहना है कि जीवन पारस्परिकता है , सम्बन्ध है , संघर्षमय कर्म है। आपने अपनी कृति "प्रथम और अन्तिम मुक्ति" (पृष्ठ–261) में वर्णन किया है :–

" हम जीवन से क्या समझते है? क्या जीवन का कोई अर्थ है या प्रयोजन है ? क्या जीवन स्वंय उसका प्रयोजन उसका अपना अर्थ नहीं है? .... निःसन्देह वह व्यक्ति जो समृद्धि पूर्ण जीवन

जी रहा है , वह व्यक्ति जो वस्तुओं को जैसी वे है देखता है और जो कुछ उसके पास है उससे सन्तुष्ट है , वह व्यक्ति भ्रममय नहीं है बल्कि सत्य के नजदीक है अतः वह नहीं पूछता की जीवन का प्रयोजन क्या है और जीना ही स्वंय का आरम्भ और अन्त है।"

वास्तविकता यह हे कि उन्होंने अपने अन्दर झांक कर देखा और समझने का प्रयास किया कि समिष्ट के प्रति प्रेम और सम्बन्धों की वास्तविकता पूर्णतः है। इसलिए मानव जाति के प्रति हमारा प्रेम ही सब कुछ है इस प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं है। आपने अपनी कृति "प्रथम और अन्तिम मुक्ति " (पृष्ठ 262) पर लिखा है :-

"जब प्रेम होता है, जोकि उसकी स्वंय अपने में चिरतंनता है , तो ईश्वर की खोज नहीं होती , क्योंकि प्रेम ही ईश्वर है।.................. जीवन के प्रयोजन के विषय में वे लोग ही प्रश्न करते है जो प्रेम नहीं करते। प्रेम केवल कर्म में ही मिलता है और कर्म सम्बन्ध है।"

<u>दुःख सम्बन्धी विचार :-</u> संसार में विभिन्न प्रकार के कष्ट और दुःख मनुष्य के साथ लगे रहते है दुःख मानसिक पीड़ा होती है जबकि कष्ट शरीर से सम्बन्धित होता है। शारीरिक कष्टो का निवारण "डाक्टर के अध्ययन और सही दवा के सेवन से दूर किया जा सकता है लेकिन मानसिक पीड़ा के लिए व्यक्ति को अपने व्यवहार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना होता है। इसके उत्पन्न होने का कारण इच्छाओं की तीव्रता , अज्ञान का उदय और सही मूल्यांकन न कर पाना है जिससे उसमें निराशा होती है और मानसिक दुःख उत्पन्न हो जाता है। जे0कृष्ण मूर्ति ने अपनी कृति " आमूल क्रान्ति की आवश्यकता " (पृष्ठ 38) पर वर्णन किया है –

" जब समक्ष का प्रकाश होता है तभी दुःख समाप्त होता है और यह ज्योति किसी एक अनुभव या समक्ष की चमक से प्रकाशित नहीं होती , बल्कि प्रत्येक समय मनुष्य स्वंय को आलोक मय बनाये रखता है। कोई पुस्तक , कोई दांव पेंच कोई , शिक्षक या उद्वारक आपको यह समझ नहीं दे सकता, बल्कि स्वंय की समक्ष ही दुःख का अन्त है।"

सामान्य रूप से समय का विभाजन भूतकाल वर्तमान काल और भविष्य काल में होता है। भूतकाल और भविष्यकाल का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं होता है इनका जन्म मनोवैज्ञानिक

संकल्पनाओं द्वारा अस्तित्व में आता है। लेकिन वर्तमान का मूल्य और अस्तित्व है। हमारे सभी कार्य वर्तमान में सम्पन्न होते है। मानव दुःख का कारण अनुभवों को याद करना मात्र है जैसे– परिवार के सदस्य की मृत्यु हमें भूतकाल की स्मृति देती है और दुःख का कारण बनती है इसी प्रकार भविष्य में मकान बनाने की इच्छा पूरी न हो सकी तो दुःख का कारण बनती है। अतः वर्तमान में जीने वाला व्यक्ति कभी दुःखी नहीं होता जैसाकि आपने आपनी पुस्तक "ज्ञान से मुक्ति" (पृष्ठ–81) में लिखा–

" क्या हम समय को रोक या ठहराओं दे सकते है ? क्या हम अपनी समग्रता से जी सकते है ? जिससे विचार को भूतकाल के और भविष्य काल के बारे में सोचने का अवसर ही न मिले क्योंकि समय ही तो दुःख है।"

<u>भय सम्बन्धी विचार :–</u> भय मनुष्य की बड़ी समस्याओं में से एक है। हम कभी कभी वर्तमान वस्तुओं से भयभीत होते है और कभी अज्ञात वस्तुओं से भयभीत होना या भय से ग्रसित होना मनोवैज्ञानिक तत्व है। हमारे मन में जब द्वन्द उत्पन्न होता है तो वह हिंसक , विकृत और आक्रमक हो जाता है भय का मनोवैज्ञानिक कारक जीवन की असफलतायें और निराशायें होती है। मनुष्य अपने विकास के लिए विभिन्न कार्य करता है वहां उसे प्रतियोगिताओं का सामना करना पड़ता है। यह प्रतियोगितायें ही उनके भय का कारण बनती है। आपने अपनी पुस्तक "ज्ञात से मुक्ति " (पृ040) पर लिखा है "ऐसे भ्रष्ट एवं चौपट समाज में हमारा जीना, भय पैदा करने वाली प्रतियोगिता पर आधारित शिक्षा से हमारा संस्कारित होते रहना, इत्यादि अनेक कारणों से हम सभी किसी न किसी प्रकार से भय से हमेशा ग्रस्त रहते है। भय एक ऐसी भयावह वस्तु है जिसके कारण हम टूट कर मुरझाये हुए और बुझे से दिन बिताने को मजबूर होते है।"

यदि हम भय को समझने का प्रयास करे तो पाते है जीवन में आने वाली अनिश्चितता ही भय का परिणाम होती है हम लोग एक परम्परा पर चलते है जब इसमें कोई परिवर्तन होता है तब इसमें अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तब हम भयभीत हो जाते है। आपने अपनी पुस्तक " प्रथम और अन्तिम मुक्ति" (पृ0 67) में लिखा है – "भय वहीं उत्पन्न होता है जंहा मेरे अन्दर एक विशेष ढांचे में होने की वासना है। भयहीन जीवन का अर्थ है वह जीवन जिसका कि

कोई स्वरूप या परम्परा न हो। एक विशेष प्रकार की जीवन की चाह में ही भय का स्त्रोत निहित है।"

आज के मनीषियों ने भय को एक मनो–वैज्ञानिक प्रक्रिया माना जिसमें हम किसी व्यक्ति , विचार और वस्तु आदि से सम्बन्ध बना लेते है। जब किन्ही कारणों से उन सम्बन्धों के विखरने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है तो हम भयभीत हो जाते है। अतः व्यक्ति को भय से मुक्ति के लिए समस्त मनोवैज्ञानिक स्थितियों का ज्ञान लेना चाहिए अर्थात आत्मज्ञान ही भय से मुक्ति दिला सकता है। आपने अपनी पुस्तक " प्रथम और अन्तिम मुक्ति " (पृ0 169) में लिखा है –

" यदि आप भय से पूर्णतय मुक्त होना चाहते है तो आपके लिए यह अनिवार्य कि संज्ञा प्रदान करने की प्रतीकों एवं आकृतियों की , प्रक्षेपण की , तथ्यों के नामांकन करने की समस्त प्रक्रिया को समझें । आत्मज्ञान होने पर ही भय से मुक्ति सम्भव है। आत्मज्ञान प्रज्ञा का आरम्भ है और प्रज्ञा भय का अन्त है।"

मृत्यु सम्बन्धी विचार :–

मृत्यु एक स्वाभाविक क्रिया है। यहीं अंतिम सत्य भी है। यही नवीन जीवन देती है। मानव मन आकांक्षाओं के सहारे जीता है। जब आकांक्षाओं में कोई अवरोध प्रतीत होता है तो मृत्यु का भय बना रहता है। यही कारण है कि हम मृत्यु से घबराते है। मृत्यु एक ऐसी घटना है जो हमारी समस्त वासनाओं , कल्पनाओं, सम्बन्धो तथा सातत्यता को एक क्षण में समाप्त कर देती है। जे0कृष्ण मूर्ति का कहना है कि हमें जीना नहीं आता है , इसलिए हम मृत्यु से भयभीत रहते है। चूंकि हम ठीक से जीना नहीं जानते , अतः मरना भी नहीं जानते । जब तक हम जीवन से भयभीत रहेगें तब तक मृत्यु से भी भयभीत रहेगे। जो व्यक्ति जीवन से भयभीत नहीं है वह पूर्णतः असुरक्षा से भी भयभीत नहीं होता है। क्योंकि वह जानता है कि सुरक्षा जैसे कोई चीज़ नहीं होती है जब तक आन्तरिक सुरक्षा न हो। जब आन्तरिक सुरक्षा होती है तो जीवन का अनन्त विस्तार होता है और हमें ज्ञान हो जाता है कि जीवन–मृत्यु एक ही डोरी के दो छोर मात्र है। जो व्यक्ति संघर्ष रहित, प्रतिस्पर्धा रहित जीवन जीता है , जो प्रेम और करूणा से भरा है तथा सौन्दर्य साधक है उसे मृत्यु से कोई भय नहीं होता है। आपने अपनी कृति "ज्ञात से मुक्ति" (पृ0 84) में वर्णन किया है :–

"यदि आप हर ज्ञात चीज़ के प्रति– आपका परिवार आपको स्मृ1ति, अब तक के अनुभव अर्थात आपके संज्ञान में जो कुछ है, मर जायें तो मृत्यु आपको शुद्व और निर्मल कर देती है। मानो यह कायाकल्प और पुनर्जीवन की एक प्रक्रिया है।"

मृत्यु शारीरिक और मानसिक होती है जिसमें स्थूल शरीर की क्षय होती है और मन का अस्तित्व समाप्त होता है। शारीरिक मृत्यु अनिवार्य है क्योंकि जो जन्मता है वह मृत्यु को भी प्राप्त होता है। शारीरिक मृत्यु का कारण ऊर्जा की समाप्ति माना गया है। दार्शनिकों ने मन को मृत्यु को ही मुख्य माना है। जब हम अपने विचारों , अनुभवों , वासनाओं आदि से सम्बनध छोड़ देते है यानी अहंकार रहित हो जाते है तो इस मृत्यु में ही वास्तविक जीवन प्रारम्भ होता है, जो हमें शाश्वत आनन्द देता है। आपके शब्दों में :–

" मरने के पश्चात क्या होता है, यह जानने का वस्तुतः एक ही उपाय है कि आप मर जायें।............. मरने का अर्थ है मन का विचार शून्य होना यानी पूर्णतः रिक्त हो जाना (अपने प्रतिदिन की आकांक्षाओं , सुखों और दुःखों से खाली हो जाना) मृत्यु एक रूपान्तरण या नवीनीकरण है , जहां विचार का अस्तित्व नहीं होता क्योंकि वह पुराना है। जहां मृत्यु है, वहीं कुछ नया जन्म लेता है। ज्ञात से मुक्ति ही मृत्यु है और तब आपका जीना आरम्भ होता है। " (ज्ञात से मुक्ति पृ0 85)।

<u>युद्व और हिंसा सम्बन्धी विचार :–</u>

युद्व मानवीय समस्याओं का विकराल तथा अहं की तुष्टि का समाधान है। वैसे मनुष्य आन्तरिक तथा मन में सदैव युद्वरत रहता है जिससे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से वैयक्तित्व तथा सामाजिक हानि होती है। इतिहास गवाह है कि पिछले तीन हजार वर्षो में मानव द्वारा लगभग पांच हजार युद्वों को जन्म दिया गया है। इस प्रकार से युद्व मानव विकास के साथ–साथ विकसित हुआ है , अतः युद्व की अनिवार्यता प्रतीत होती है। इसका कारण मानव मन में स्थित वासनायें , चिार वैमनस्थ, धर्मो की रूढ़ियां , राष्ट्रवाद की भावनायें आदि रही होंगी। जे0कृष्णमूर्ति जी के अनुसार :–

"युद्ध का कारण विश्वास है, पूर्वाग्रह है,वह राष्ट्रवाद में हो, किसी विचारधारा में हो अथवा विशेष रूढ़ि में। .... युद्ध का कारण शक्ति , पद , सम्मान, धन की वासना है। उसका कारण वह बीमारी भी है जिसे राष्ट्रवाद अथवा ध्वजवाद कहा जाता है और वह बीमारी भी जो कि संगठित धर्म अथवा किसी रूढ़ि की पूजा में प्रकट होती है।" (प्रथम और अंतिम मुक्ति , पृ0 163)

मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि युद्ध मानव के परस्पर विरोधी विचारों से जन्म लेता है। उसका पोषण मन की अज्ञानता के अन्तविरोधों द्वारा होता है , जो जीवन शक्ति को विखण्डित कर देती है। परिणाम स्वरूप हम एक साथ ही युद्ध की रचना करते है और शांति का संदेश देते है, भले ही वह झूठी हो।

युद्ध का स्वरूप हिंसात्मक होता है। आदिम काल में मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए हिंसक बना। " अस्तित्व के लिए संघर्ष" का विचार पशु प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है। हिंसा तथा युद्धों से जीवन को नवीनता भी मिली है। जो मानव हित के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ" के रूप में आज विद्यमान है। हिंसा नई सभ्यता या जीवन पद्वति को जनम देती है लेकिन मनुष्य के अस्तित्व के लिए खतरा बन चुकी है। आज विकासशील देशों द्वारा अपनी वैचारिकता तथा भय से पर्याप्त विनाश सामग्री एकत्रित करती है। हिंसा का प्रमुख कारण हमारा मन ही है। हमारे मनों का वैचारिक विभाजन हमारे अस्तित्व के एकाकार में बाधक होते है। जे0कृष्णमूर्ति (ज्ञात से मुक्ति पृ0–53) ने लिखा है :–

"जब आप धर्म , परम्परा , राष्ट्रीयता के आधार पर अपने को अलग करते है , तो इससे हिंसा जन्म लेती है। वह व्यक्ति जो हिंसा को समझने की दिशा में प्रयत्नशील है वह न तो किसी धर्म का है और किसी देश या राजनैतिक पार्टी का। अर्थात वह किसी भी पक्षपाती विचार धारा या प्रक्रिया से जुड़ा नहीं होता है क्योंकि वह अपना सम्बन्ध समूची मानव जाति से मानता है। "

इस कथन से स्पष्ट होता है कि मानव मात्र को अहिंसक होना चाहिए ताकि वह सभी प्रकार की अनेकत्य में एकता को स्थापित करके आत्मज्ञानी बन सके। जो मन अहिंसा को धारणा करके क्रियाशील होता है वह कभी भी अहिंसक नहीं बन सकता। वह हिंसक और अहिंसक के भेद से परे होता है।

<u>सत्य की व्याख्या :–</u>

सत्य शब्द बड़ा ही व्यापक एवं वहु प्रयोगी है। भारतीय मनीषियों ने सत्य को ही परम् सत्ता माना है। शब्द कोश में इसको वर्तमान, विद्यमान ,वास्तविक आदि रूपों में वर्णन किया गया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में सत्ता अस्तित्व ,ब्रह्म तथा परमात्मा आदि को ही सत्य माना जाता है। अतः सत्य वही है जो वर्तमान है , सत्ता रखता है , जिसका अस्तित्व है , जिसका यह विस्तार है ,जो चरअचर सभी में समान रूप से उपस्थित है तथा जो विरोधी में भी समाया हुआ है।"

गैस्टाल्ट मनोविज्ञानी प्रतयेक वस्तुत का प्रत्याक्षीकरण उसके समग्र में करते है। मानव जीवन को उसकी सम्रता में जिया जाये तो अखण्ड जीवन ज्योति के दर्शन होते है। मानव ने जीवन को खण्डों में बॉट दिया है जिससे हम अपनी दृष्टि से सत्य को नहीं देख पाते है। जब हम जीवन को उसकी समग्रता में जीते है तो हमे जीवन के लक्ष्य का अनुभव होता है। कृष्णमूर्ति जी कहते है कि अज्ञानी वह व्यक्ति नहीं है जो साक्षर नहीं होता है ,बल्कि अज्ञानी वे लोग होते है जो अपनी सत्ता को नहीं जानते है। ऐसे सत्य की खोज करना जीवन का लक्ष्य है। हमारे जीवन की ऊर्जा की साथर्कता इसी में है कि हम अपनी अनन्त शक्ति को खोज में लगाये, अन्यथा इस शक्ति द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य विनाश एवं पीड़ा का कारण बनकर रह जायेगा। आपके अनुसार :–

" मानव जीवन के अस्तित्व का केवल एक ही उद्देश्य है और वह है सत्य की खोज करना परमात्मा की खोजन करना। .... निसंदेह मानवीय मन, जिसमें इतनी आश्चर्यजनक महानशक्ति। यदि वह सत्य की , परमात्मा की , खोज नहीं करता तो उसकी शक्ति द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य विनाश और पीड़ा का कारण बन जायेगा। " (संस्कृति का प्रश्न, पृष्ठ–196–197)

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि सत्य की खोज ही जीवन है तो सत्य को कैसे खोजा जाय ? आप जीवन का लक्ष्य सत्य या परमात्मा की खोज मानते है क्योंकि सम्पूर्ण सत्ता उसी की है , वह प्राणी मात्र में समाया हुआ है। अतः खोजी को किस विधि या रास्ते का , या मार्गदर्शन का सहारा लेना चाहिए ? इसके उत्तर में आपका कहना है कि सत्य की खोज का कोई मार्ग नहीं है , इस तक पहुँचने के लिए कि पन्थ , पुरोहित , कियाकाण्ड तथा गुरू आदि सत्य के मार्ग के बाधक है ,

साधक नहीं। वास्तविकता यह है कि सर्वत्र सत्य की ही सत्ता है , परन्तु हमारा मन खण्डों में बटा है, अतः उस अखण्ड को हम खण्डों में देखने के अभ्यस्त हो गये है। यदि हम टूटे हुए दर्पण में स्वंय को देखे तो विभिन्न आकृतियां नजर आती है , उसी प्रकार खण्डित चेतना द्वारा शाश्वत प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाता है। अपनी पत्रिका 'परिसंवाद' (अंक–5, प्र.15) में बताया है :–

" मैं निश्चियपूर्वक कहता हूँ कि सत्य, शाश्वत जीवन प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर छिपा हुआ है पर यह स्वचेतनाता के द्वारा ढका हुआ है। सम्पूर्णता में द्वैत भावना नहीं हो सकती। क्योंकि द्वैत भाव सिर्फ स्वचेतनता में ही उत्पन्न होती है। शुद्व कार्य का क्षेत्र सर्म्पूणता में रहता है , परन्तु अच्छा और बुरा , द्वैत , स्वचेतनता के भ्रम में उत्पन्न होते है। "

भारतीय दर्शन के अनित्यवाद ' सत्य को निरन्तर गतिशील, तथा परिवर्तनशील माना है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने भी इसको कभी स्थिर न रहने वाला, गतिशीलता लिए हुए तथा क्षण–क्षण में परिवर्तित होने वाला माना है। आपने लिखा है:–

" जो वास्तव में है, वह निरन्तर गतिशील है, उसमें निरन्तर मौलिक परिवर्तन हो रहा है और यदि मन विश्वास द्वारा संचित ज्ञान से जकड़ा रहता है, तो वह जो वास्तव में, उसकी तीव्र गति का अनुशीलन करना, उसका अनुगमन करना छोड़ देता है।" (प्रथम और अंतिम मुक्ति पृ03)।

यह कहा गया है कि संसार परिवर्तशील है तो व्यक्ति भी प्रत्येक क्षण परिवर्तित हो रहा है। इसका प्रभाव शरीर एवं मन दोनो पर पड़ रहा है। ऐसी अवस्था में सत्य को जानने तथा समझने के लिए एक तीव्रग्राही मन की आवश्यकता होती है , जिसमें क्षण–क्षण में होने वाले परिवर्तन के निरीक्षण की क्षमता हो और वह आसक्ति तथा तिरस्कार से पूर्णतः मुक्त हो , ऐसा मन ही सत्य को समझने में समर्थ हो सकता है। आपने लिखा है कि– "परन्तु जैसा वास्तव में है उसे समझना अत्यधिक कठिन है,क्योंकि वह कभी स्थिर, कभी जड़वत् नहीं रहता, वह सदा ही गतिशील है।

सत्य की कोई सीमा या आदर्श नहीं है। आदर्श अवास्तविक होता है क्योंकि उसका जन्म कल्पना से हुआ है , लेकिन वास्तविकता जो है। सत्य को समझने के लिए क्षण–क्षण अवधान की आवश्यकता पड़ती है। व्यक्ति अपने मन में उठने वाली तरंगो का ध्यानर्वूक अवलोकन करें तो मन

के अन्दर उत्पन्न होने वाली चिन्तन की क्रिया–प्रतिक्रिया उसको वास्तविकता का आभास दिला सकती है। इसके अतिरिक्त जब हम वास्तविकता से भिन्न परिकल्पना करते है तो वह आदर्श बन जाती है। आदर्श हमेशा अस्तित्वहीन होता है। आपके अनुसार :–

"जैसा वास्तव में है वही आप है, आप वह नहीं है जैसा आप बनना चाहते है। वास्तविकता कोई आदर्श नहीं क्योंकि आदर्श अयथार्थ होता है। वास्तविकता, वास्तव में वही है, जो आप प्रतिक्षण कर रहे है, सोच रहे है और अनुभव कर रहे है" (प्रथम एवं अंतिम मुक्ति पृ0 26–27)।

सत्य का अनुभव व्यक्ति परक है। इसको कोई व्यक्ति न दे सकता है , न बेच सकता और न चुरा सकता है। इसको तो स्वंय के मूल्य पर ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि ऐसा होता तो आध्यात्मिक व्यक्तित्व वाले अपने समसामयिकों को सत्य की उपलब्धि करा देते है। जब व्यक्ति अपनी आंतरिक ऊर्जा को अनुशासन द्वारा क्रियान्वित करता है तो सत्य स्वतः ही उद्‌घाटित हो जाता है। आपने अपनी कृति 'संस्कृति का प्रश्न' (पृ0 198) में लिख है :–

"जिस प्रकार सझिंता स्वंय ही स्वंय को सम्हालने के लिए किनारो का निर्माण कर लेती है इसी तरह से सत्य का अन्वेषण करने वाली हमारी ऊर्जा भी स्वंय अपना अनुशासन बना लेती है जिसमें किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं है। अंत में जिस प्रकार सरिता , सागर को खोज लेती है उसी प्रकार वह शक्ति भी मुक्ति ; को ढूँढ लेती है।"

"सत्य " के अन्वेषण से स्पष्ट होता है कि वह कोई विचार की वस्तु नहीं है। उसकी अनुभूति विभिन्न दर्शनों, विचारों और गुरूओं से नहीं जाना जा सकता है , बल्कि उसकी अनुभूति तभी होती है, जब हम अपनी समस्त धारणाओं, पूर्वागृहों धार्मिक क्रिया–कलापों की भाग दौड़ से थक कर शांत हो जाते है। ऐसी स्थिति मे हमारे मन की मौत हो जाती है यानी हम अहंकार मुक्त हो जाते है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें समय रूक जाता है, और वही क्षण सम्पूर्णता का क्षण होता है। ऐसे क्षण में दृष्टा एवं दृश्य विचारक एवं विचार , साधक एवं साध्य में कोई भेद नहीं रह जाता है अर्थात वे एक ही हो जाते है और वे अद्वैत की अवस्था में आ जाते है। आपने लिखा है :–

"सम्पूर्णता का अर्थ है एक ऐसे क्षण में जीना जिसके सम्बन्ध में कभी सोचा नही गया है और जिसका सातत्य नहीं है। इसीलिए पूर्णता का विचार नहीं किया जा सकता, और इसे स्थायी बनाने का कोई मार्ग भी नहीं है। केवल वही मन जो अत्यधिक शांत है जो पूर्व धारणायें नहीं बना रहा है, जो दौड–भाग नहीं कर रहा है, कल्पना नहीं कर रहा है , वही पूंर्णता के क्षण की अनुभूति कर सकता है , ऐसा क्षण जो अपने आप में पूर्ण है" (संस्कृति का प्रश्न पृ0 135)।

आत्मज्ञान सम्बन्धी विचार

अर्थ :–

मानव एक क्रियाशील प्राणी है, जो विभिन्न प्रकार के परिश्रम द्वारा अपने व्यक्तित्व को बनाता है। वह हमेशा भौतिक जगत के प्रति स्वंय को अर्पण करता रहता है जो जड़ जीवन और चेतना का जगत है। इसका निर्माण एवं विकास मानव ने अपने अनुभवों के द्वारा किया है। लेकिन, एक उसका आंतरिक जगत भी होता है जिसमें उसके समस्त अनुभवों , तथा प्रयत्नों का सार समाया रहता है। इन्हीं अनुभवों का संगठन "स्व" या "आत्म" जिसका ज्ञान आत्मज्ञान माना गया है। आपने "संस्कृति का प्रश्न (पृ0–114) में लिखा है :–

" भले ही आप विश्व की समस्त उपाधियां प्राप्त कर लें ,लेकिन यदि आप अपने आपको नहीं जानते तो आप महामूढ़ व्यक्ति है। सम्पूर्ण शिक्षा का मूल उद्‌देश्य ही अपने आपको जानना है।......... परन्तु आत्मज्ञान की अनुपस्थित में ये सब जीवन के नासमझी के रास्ते है।"

"स्व" की सत्ता :– आज के वैज्ञानिक तथा भौतिक विकास ने मानव को सुखानुभूति अहं के रूप में करवाई है। वह मंगल ग्रह आदि पर विकास करने की योजनाओं को क्रियान्वित कर रहा है, लेकिन वह कौन है ? उसकी सत्ता क्या है? और "स्व" का निर्माण कैसे होता है ? नहीं जान पाया है। "स्व" मानव की आन्तरिक अवस्था का द्योतक है जिसमें "आत्म" की स्थापना होती है। जे0कृष्णमूर्ति के अनुसार :– "स्व" व्यक्ति द्वारा अपनाई गयी वह प्रक्रिया है जिसमें उसकी धारणा, स्मृति, निष्कर्ष, अनुभव , सकारात्मक तथा नकारात्मक अभिप्रायों के विभिन्न रूप , प्रयास, अचेतन में स्थिति स्मृति,

प्रजाति, समूह, व्यक्ति, वंश और इन सबकी समग्रता आदि का समुच्चय होता है।...... इन सबके लिए प्रयास, प्रतियोगी क्रिया आदि सम्मिलित है" (प्रथम और अंतिम मुक्ति पृ0 58)।

<u>आत्म ज्ञान की सत्ता</u> :– आत्मज्ञान की साधना करने के लिए हमारे ऋषि–मुनियों ने अनेक पद्धतियों का विकास किया है। वर्तमान के आध्यात्मिक केन्द्रों द्वारा नवीन साधना पद्धतियों का प्रचलन बड़े जोर–शोर से हो रहा है , परन्तु जे0कृष्णमूर्ति ने सभी प्राचीन तथा नवीन पद्धतियों का खण्डन किया है। आपने लिखा है :–

" हमें किसी दूसरे से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे पुस्तकीय माध्यम से प्राप्त किया जा सके। इसकी खोज़ प्रत्येक को संकल्प, अनुसंधान और अन्वेषण के द्वारा करनी चाहिए। इस हेतु दृढ़ संकल्प का अभाव शिथिल होने से या अस्तित्व भाव न होने से या जानने की इच्छाभाव होने से सफलता प्राप्त नहीं होती । (प्रथम और अंतिम मुक्ति पृ. 25)।

<u>आत्म ज्ञान और मुक्ति</u> :–

मानव जीवन समस्याओं का संगठन मात्र न होकर उन पर विजय पताका फहराने वाला सम्यक व्यक्तित्व है। वह जब तक "स्वचेतना" के मोह में फसा रहता है , समस्याओ में घिरा रहता है, क्योंकि 'स्वचेतना' सम्पूर्ण सत्ता से उसको विलय कर देती है। अतः सर्म्पूर्ण चेतना से अलगाव ही समस्त समस्यायों का कारण होता है। जब हम "स्वचेतना" का अंत या सर्म्पूर्ण चेतना में विलय कर देते है तो 'समभाव' प्रकट होता है जिसे भारतीय मनीषियों ने अहं बृहगास्मि' या तत्वमसि' जैसे महावाक्यों से पुकारा है। यह वह अवस्था होती है जिसमे शून्यता का बोध होता है, सुख–शांति का अनुभव होता है। यही 'मुक्ति' की अवस्था है , जिसको प्राप्त करने का मानव मात्र का लक्ष्य होना चाहिए। जैसा जे0कृष्णमूर्ति का विचार है :–

"मुक्ति मन की अवस्था है। ये किसी चीज़ से युक्त नहीं है, बल्कि स्वचछता और उन्मुक्ति का एक बोध है। ऐसी मुक्ति का अर्थ है निपट एकाकीपन में होना, जिसमें न कोई परम्परा है, न काई सत्ता है और न किसी का नेतृत्व है" (ज्ञात से मुक्ति पृ0 74)।

<u>सद्‌गुण का विकास</u> :–

मानव एक सामाजिक प्राणी है वह समाज में रहकर अपना विकास तथा व्यक्तित्व का निर्माण करता है। प्रत्येक समाज अपने नागरिकों में भौतिक गुणों का विकास करता है और सद्‌गुण बनाता है। लेकिन कृष्णमूर्ति जी सद्‌गुणों का विकास समाज द्वारा न मानकर आत्मज्ञान को मानते है। सद्‌गुणी व्यक्ति ही नैतिक होता है , वही यथार्थ को समझ सकता है, भय से मुक्ति होता है। जैसा उनका मत है :–

"आप क्या है ? इसे समझना। चाहे वह सुन्दर हो या कुरूप हो , भला हो या दुष्ट हो– आप जैसे है, वैसे ही बिना किसी प्रतिरूप के समझना, देखना ही सदृगुण है। सद्‌गुण आवश्यक है क्योंकि वह स्वतंत्रता प्रदान करता है। वह सद्‌गुण ही है जिसमें आप अन्वेषण कर सकते है, जीवित रह सकते है परन्तु अभ्यास से प्राप्त सद्‌गुण नहीं जो सम्मान तो दिला देता है , परन्तु ज्ञान और स्वतंत्रता नहीं " (प्रथम और अंतिम मुक्ति पृ0 26)।

<u>आत्मा का स्वरूप</u> :–

भारत के सभी मनीषियों ने 'आत्मा ' को परमात्मा का अंशमाना है, जो सभी प्राणियों में समान रूप से निरन्तर एवं शाश्वत रूप से अवस्थित रहती है। इसीलिए इसे महान माना गया है। लेकिन आपके विचार से आत्मा का स्वरूप भिन्नता रखती है। सामान्य मत के द्वारा "आत्मा" केवल अहंकार है जो दृष्टा की भूमिका में प्रत्येक में रहती है। इस आत्मा का निर्माण मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति , अपेक्षा, आकांक्षा और चाहत से होता है। आत्मा तो मनुष्य के भौतिक शरीर से भिन्न वह अमृत तत्व होती है जो सर्वमय, व्यापक, अक्षय और अमर है। आपके कथन से :–

" हमारी संस्कृति एवं सभ्यता ने जो अनगिनत मानवों का सामूहिक अपेक्षा और आकांक्षा है, इस आत्मा" शब्द का अविष्कार किया है। इसी सामूहिक इच्छा ने इस भौतिक शरीर के परे जो मरता है , नष्ट होता है, कुछ न कुछ ऐसी वस्तु जरूर होनी चाहिए, जो अधिक महान है, व्यापक है अक्षय है, अमर है। इस प्रकार आत्मा के विचारों की स्थापना हुई " (संस्कृति का प्रश्न पृ0 37)।

जे0कृष्णमूर्ति के कथन से स्पष्ट होता है कि ''आत्मा''शब्द या विचार नहीं है बल्कि वह चैतन्य की ऐसी अवस्था है जो मृत्यु को कभी प्राप्त नहीं होती है, बल्कि सर्वव्यापी, अजर, अमर है। अतः हम कह सकते है वहीं अमरत्व है, जिसकी खोज या अनुभूति संसार के इने–गिने लोगों को हुई और जिनसे मृत्यु भी हार गयी।

ज्ञान सम्बन्धी विचार :–

अपने विचार तथा विवेक के कारण मनुष्य सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है। उसने आज विज्ञान के क्षेत्र मे जो प्राप्तियां की है उनका आधार विचार तन्मयता तथा विवेकशीलता है। उसने भूर्त और अमूर्त प्रतिभाओं का आविष्कार ही नहीं किया बल्कि उनके सजीव होने के आध्यात्मिक प्रमाण भी दिये है। उसकी वैचारिकता ने और कल्पना शक्ति ने ऐसी विचार धाराओं को जन्म दिया जो आज आतंकवाद में विश्वास करके मानवों में धृणा को फैला रहे है। हमारा कथित ईश्वर भी मानवीय वैचारिकता का परिणाम है। सृष्टिवाद के अनुसार सभी प्राणी ईश्वर की कृतियां है, लेकिन वास्तविकता यह है कि ईश्वर को मानवीय विचार धारा द्वारा भिन्न भिन्न रूपों में मढ़ा गया है। मनुष्य के विचारों, कल्पनाओं और अनुभवों से ज्ञान का जन्म होता है। सामान्य व्यक्ति से लेकर ज्ञानी , विद्वान आध्यात्मिक महापुरूष सभी अपने तथा दूसरों के अनुभवों का सदा संग्रह करते रहते है। इसी अनुभव संग्रह का नाम ज्ञान है।

हमारा अनुभव सदा सीमित होता है क्योकिं नित नया अनुभव हमारे ज्ञान से वृद्धि करता है। जिनका अनुभव सीमित होता है तो उनका ज्ञान भी सीमित होता है और जिनका अनुभव विस्तृत होता है, उनका ज्ञान भी व्यापक होता है। इसी मानवीय लालसा ने अन्वेषण को आज मंगलग्रह पर बसने की योजना तक पहुँचा दिया है। अतः ज्ञान की सीमा बतलाते हुए उन्होंने पत्रिका 'परिसंवाद' अंक–1 में पृष्ठ–25 पर लिखा है कि 'सभी अनुभव सीमित है , क्योंकि वैज्ञानिक उसमें और अधिक से अधिक जोड़ रहे है। जिसमें जोड़ना और जोड़ने की संभावना हो, वह सर्वदा सीमित होता है।''

स्मृति :– मानव की सूचक ज्ञानेन्द्रियां सदैव से क्रियाशील रही है। ब्रह्माण में जो भी घटित हो रहा है, इनके द्वारा उसका आभास मनुष्य को होता हे। इसी अनुभव से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जब यह ज्ञान हमारे स्मृति पटल पर अंकित हो जाता है और सामयिक इसका प्रयोग भी किया जाता है तो स्मृति बन जाता है।यही स्मृति जन्य विचार एक जीवन की पुस्तक के रूप में तैंयार हो जाते। जिसे हमारी संताने इतिहास के नाम से जानकर लाभ उठाती है। आपके विचार से आपने कल कुछ किया और जो कुछ आपने किया वह मस्तिष्क में अंकित हो गया जो कि स्मृति बन जाता है और इस स्मृति के अनुसार आप सोचते और कार्य करते है। आपने इन अनुभवों को अंकित कर एक किताब लिख रखी है , जिससे आप याद किया करते है जो ज्ञान के परिपाक के रूप में है।"

विचार का स्त्रोत–स्मृति :–

मनोवैज्ञानिक विचारों को वातावरण में व्याप्त उद्दीपकों के प्रभाव के फल के रूप में मानते है। जब कोई व्यक्ति, विचार वस्तु हमकों प्रभावित करती है, हम उसकी ओर आकर्षित होते है और अनुक्रिया करते है। यह अनुक्रिया विचार और अनुभव की परिणति होती है। जे0कृष्णमूर्ति का मानना है कि स्मृति विचारों की स्त्रोत है। यदि किसी कीस्मृति समाप्त हो जाये तो वह विगत को भूल जाता है और विचार शक्ति समाप्त हो जाती है यानि हमारा सारा ज्ञान समाप्त हो जाता है। उन्होंने लिखा है :–

यदि आपके पास कल की या कल जो होगा, उसकी स्मृति न रहे या किसी प्रकार की कोई स्मृति केन्द्र विन्दु है जिससे विचार उत्पन्न होता है, विचार से क्रिया उत्पन्न होती है और क्रिया से हमें अनुभव प्राप्त होता है, अनुभव से ज्ञान का उदय होता है और ज्ञान फिर स्मृति में परिणत हो जाता है। इस प्रकार से मानसिक प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, इसी को भव सागर की संज्ञा दी गयी है। अब सागर या संसाद मानवीय कर्मो का ताना–बाना है इसका निर्माण किसी अदृश्य शक्ति ने नहीं किया है। अतः सांसारिक जीवन कर्म, अनुभव, स्मृति विचार से निर्मित यह वृत्तीय मानव यात्रा ही संसार है।

<u>प्रज्ञा</u> :—

परिवेश में किया गया प्रत्याक्षकरण मस्तिष्क में विभिन्न प्रतिभाओं को बनाता है। इन प्रतिभाओं का निर्माण या गठन हमारे पूर्वाग्रहों से होता है। हमारा प्रत्यक्षीकरण भी अंशों में होता है न कि पूॅर्ण के रूप में , क्योंकि हमारा मन पूॅर्ण रूप से शांत नहीं होता है। अतः जब हम शरीर ,मन तथा सभी इन्द्रियों को एकाग्र कर लेते है और अपनी संवेदनशीलता और चुनाव रहित सजगता से किसी घटना को उसकी सम्पूर्णता में देखते है तो यह अवलोकन ही प्रत्यक्ष ज्ञान है जो "प्रज्ञा" को जन्म देता है। जे0कृष्णमूर्ति आमूलक्रान्ति की आवश्यकता (पृ0 93) में लिखते है :—

" आप यह सत्यता नहीं देखते है कि केवल शांत मानस ही है जो देख सकता है। शांत मानस कैसे मिले, ये प्रश्न ही नहीं उठता। ये सच है कि मानस को शांति होना चाहिए और इस सच्चाई के अवलोकन से ही मानस प्रलाप से मुक्त हो जाता है। जब ऐसा होता है तब प्रज्ञा सक्रिय हो जाती है।

<u>चेतना</u> :—

मानवीय चेतना का क्षेत्र विराट है। इसी क्षेत्र में विचारों, विश्वासों तथा सम्बन्धों आदि का जाल फैला हुआ है। हमारे सारे क्रिया कलाप, उद्देश्य आशा में आकांक्षायें सुखभोग, भय अंत प्रेरणा तथा हर्ष एवं दुःख चेतना जगत से ही सम्बन्धित होते है। जब भी हम आन्तरिक जगत में प्रवेश करते है, हमारा मिलन इन्हीं प्रतिबद्वताओं से होता है। धीरे—धीरे चुनावरहित सजगता के कारण हमारा परिचय अपनी सम्पूॅर्ण चेतना से होने लगता है। इस अवस्था में किये कार्य पवित्र एवं पुनीत होते है क्योंकि जो पूॅर्ण है वही पवित्र है। मानव जीवन चेतना की ऊपरी सतह तक ही रह जाता है और शेष भाग अछूता अवचेतन का जगत है जिसका बोध हमें नहीं हो पाता है। मनोवैज्ञानिक "एस0फ्रायड" ने इस भाग को सम्पूॅर्ण चेतन का 9/10 भाग माना है, जो अछूता रह जाता है। अपने "ज्ञात से मुक्ति" पृष्ठ—26, पर लिखा है :—

"जब आप सम्पूर्ण चेतना के प्रति समग्र रूप से सजग और सचेत होते है तो आपके भीतर संघर्ष के लिए स्थान ही नहीं शेष रहता है। संघर्ष केवल चेतना में तभी उठता है जब उसका विभाजन कर दिया जाता है क्योंकि यही विभाजन मानव विचार, अनुभूति, और कृत्यों का भण्डार एवं आधार है।

ज्ञान और प्रज्ञा :–

ज्ञान की उत्पत्ति बाह्य परिवेश में होने वाले अनुभवों द्वारा होता है जो हमारी स्मरण शक्ति द्वारा संचित रहकर मानव को आवश्यकतानुसार सहायता देता रहता है। आज ज्ञान को विभिन्न रूपों में विभाजित किया गया है, लेकिन जे0कृष्णमूर्ति जी ने ज्ञान को सिर्फ तीन भागों में विभाजित किया है। प्रथम ज्ञान "वैज्ञानिक" है जो मानव मात्र को यथार्थ का वास्तविक ज्ञान देता है जिसमें इतिहास भूगोल, भाषा , शास्त्रीय, गणित और विज्ञान आदि विषयों का ज्ञान समाहित होता है। द्वितीय ज्ञान "सामूहिक" है जिसमें हमारे समस्त पूर्वजों का ज्ञान, अनुभव तथा सिद्वान्त, मंत्र, पद्धतियां आदि संचित है। तृतीय 'व्यक्तिगत ज्ञान है जिसमें हमारे व्यक्तिगत अनुभवों को संचित किया गया है। वास्तव में दैनिक जीवन में ज्ञान की बहुत आवश्यकता होती है। इसी के आधार पर प्रत्येक कार्य सम्पादित होता है। लेकिन हमारी स्मृति में पड़े अनुभव सत्य की ग्राहयता में सबसे अधिक बाधक होते है। क्योंकि वे अपने ज्ञान के द्वारा या पूर्वाग्रह के कारण सत्य के जानने में सहायता नहीं करते है बल्कि रूकावट पैदा करते है। अनुभव मानव मस्तिष्क में प्रतिमायें (विचार) बना देते है जो हमें संवेदनशील जागरूक नहीं बनने देते है और वस्तुका स्पष्ट बोध नहीं होने देते है। स्पष्ट बोध के लिये ज्ञान के साथ सत्य और असत्य का विश्लेषण करने की क्षमता जो प्रज्ञा होती है होनी आवश्यक है। जैसाकि शिक्षा संवाद (पृ0 13) में लिखा है :–

" आपमें प्रज्ञा है। इस कथन में निहित है कि आप पृथ्वी के सौन्दर्य का , वृक्षों के सौन्दर्य का, आकाश के सौन्दर्य का , सूर्यास्त की सुन्दरता, तारों की सुन्दरता तथा सूक्ष्मता के सौन्दर्य का अवलोकन कर सकते है।"

"जब आप सम्पूँर्ण चेतना के प्रति समग्र रूप से सजग और सचेत होते है तो आपके भीतर संघर्ष के लिए स्थान ही नहीं शेष रहता है। संघर्ष केवल चेतना में तभी उठता है जब उसका विभाजन कर दिया जाता है क्योंकि यही विभाजन मानव विचार, अनुभूति, और कृत्यों का भण्डार एवं आधार है।

<u>ज्ञान और प्रज्ञा</u> :–

ज्ञान की उत्पत्ति वाह्य परिवेश में होने वाले अनुभवों द्वारा होता है जो हमारी स्मरण शक्ति द्वारा संचित रहकर मानव को आवश्यकतानुसार सहायता देता रहता है। आज ज्ञान को विभिन्न रूपों में विभाजित किया गया है, लेकिन जे0कृष्णमृति जी ने ज्ञान को सिर्फ तीन भागों में विभाजित किया है। प्रथम ज्ञान "वैज्ञानिक" है जो मानव मात्र को यथार्थ का वास्तविक ज्ञान देता है जिसमें इतिहास भूगोल, भाषा , शास्त्रीय, गणित और विज्ञान आदि विषयों का ज्ञान समाहित होता है। द्वितीय ज्ञान "सामूहिक" है जिसमें हमारे समस्त पूर्वजों का ज्ञान, अनुभव तथा सिद्वान्त, मंत्र, पद्धतियां आदि संचित है। तृतीय 'व्यक्तिगत ज्ञान है जिसमें हमारे व्यक्तिगत अनुभवों को संचित किया गया है। वास्तव में दैनिक जीवन में ज्ञान की बहुत आवश्यकता होती है। इसी के आधार पर प्रत्येक कार्य सम्पादित होता है। लेकिन हमारी स्मृति में पड़े अनुभव सत्य की ग्राहयता में सबसे अधिक बाधक होते है। क्योंकि वे अपने ज्ञान के द्वारा या पूर्वाग्रह के कारण सत्य के जानने में सहायता नहीं करते है बल्कि रूकावट पैदा करते है। अनुभव मानव मस्तिष्क में प्रतिमायें (विचार) बना देते है जो हमें संवेदनशील जागरूक नहीं बनने देते है और वस्तुका स्पष्ट बोध नहीं होने देते है। स्पष्ट बोध के लिये ज्ञान के साथ सत्य और असत्य का विश्लेषण करने की क्षमता जो प्रज्ञा होती है होनी आवश्यक है। जैसाकि शिक्षा संवाद (पृ0 13) में लिखा है :–

" आपमें प्रज्ञा है। इस कथन में निहित है कि आप पृथ्वी के सौन्दर्य का , वृक्षों के सौन्दर्य का, आकाश के सौन्दर्य का , सूर्यास्त की सुन्दरता, तारों की सुन्दरता तथा सूक्ष्मता के सौन्दर्य का अवलोकन कर सकते है।"

ज्ञान को उपकरण के समान प्रयोग करना चाहिए, ताकि प्रज्ञा की सकारात्मक रूप में सहायता की जा सके। जब प्रज्ञा द्वारा ज्ञान का उपयोग किया जायेगा तो वह मानव विकास में बाधक न होकर सहायक होगा। जैसे चाकू का उपयोग आपरेशन के लिए प्रज्ञापूर्ण है और किसी को मारने के लिए किया गया उपभोग प्रज्ञारहित है क्योंकि चाकू वहीं है, निर्भरता प्रयोगकर्ता की है। यदि चाकू व्यक्ति का उपयोग करने लगे तो यह खतरनाक है। इसी प्रकार से ज्ञान जब व्यक्ति का उपयोग करने लगता है तो वह मानव समाज के लिए खतरा बन जाता है। अतः ज्ञान का रूप प्रज्ञा के लिए साधन के रूप में होना चाहिए। जैसा जे0कृष्णमूर्ति ने बताया :– "ज्ञान प्रज्ञा के द्वारा कार्य नहीं कर सकता है , परन्तु प्रज्ञा ज्ञानपूर्वक कार्य कर सकती है। मात्र ज्ञान मानवीय समस्यायों को हल नहीं कर सकता, यह जानना ही "प्रज्ञा" है।"

ध्यान सम्बन्धी विचार

ध्यान एक मानसिक प्रक्रिया है। इसका प्रयोग विभिन्न अर्थो एवं भावों में किया जाता है। शाब्दिक अर्थ–मापना, तौलना, विचार करना, सोचना तथा सावधानी से देखना आदि होता है। मनोवैज्ञानिक अर्थ में ध्यान विचार में आने वाली किसी वस्तु का मस्तिष्क के समक्ष स्पष्ट रूप से उपस्थित करने की एक प्रक्रिया मात्र है। आध्यात्मिक रूप में ध्यान मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित करने या एकाग्र करने की क्रिया है जो मंत्र जाप करने में सहायता देती है। जे0कृष्णमूर्ति जी इन सब ध्यान के तरीकों को पारम्परिक विधियां मानते है, इनसे मानव की बुद्धि कमजोर पड़ जाती है। इन सभी क्रियाओं द्वारा थोड़ी देर के लिए मन अवश्य शांत हो जाता है जिसे हम एक बड़ी उपलब्धि मानते है।

सामान्य तौर पर ध्यान एक प्रकार का अभ्यास माना जाता है जिसमें सुबह–शाम मनुष्य किया करता है। लेकिन ध्यान ऐसा कुछ भी नहीं होता है। ध्यान कोई प्रक्रिया नहीं है, न इसमें अभ्यास होता है। अभ्यास से पूर्णता मिलती है, लेकिन ध्यान को न कोई सिखा सकता है और न परम्परा

ही बनाई जा सकती है। जब हमारा मन भटकाव से थक कर, शांत होकर मौन हो जाता है, वह चेतन में होता है और न अचेतन में, तब ध्यान की अवस्था उत्पन्न होती है। "गरूण की उड़ान (पृ0 42) में आपने लिखा है :–

" ध्यान का अर्थ है बिना किसी प्रयत्न तथा बिना किसी जोर जबरदस्ती के मन तथा मस्तिष्क को उनके सर्वोच्च शिखर तक पहुँचाना , सर्वोच्च प्रज्ञा तक ले जाना ताकि वह असाधारण रूप से संवदनशील हो सके। तब मस्तिष्क एक दम मौन हो जाता है। इसके अतीत का वह संग्रह जो लाखों वर्षो से अब तक विकसित हो रहा था, जो अविराम रूप से लगातार क्रियाशील या शांत हो जाता है।"

सदाचारी तथा नैतिक लोग ध्यान प्रक्रिया से जुड़े होते है। उनका मानना होता है कि ध्यान ही सत्य की तह तक पहुँचाता है। लेकिन नैतिकता किसी अभ्यास , सामाजिक दबाब, या किसी आदर्श का परिणाम् नहीं होनी चाहिए अपितु ऐसी नैतिकता जो अपने विचार, अपनी भावनाओं और क्रिया–कलापों , अपनी वासनाओं एवं महत्वाकांक्षाओं आदि के प्रति निर्विकल्प रूप से पूँर्णतया सजग होने से प्राप्त होती है और इसी अवस्था मे ही सही सृजन होता है। ध्यान का तात्विक विश्लेषण "ध्यान" कृति में जे0कृष्णमूर्ति जी ने किया है :–

1. ध्यान का अर्थ है विचार का अंत होना और तभी एक भिन्न आयाम प्रगट होता है जो समय से परे है।
2. ध्यान किसी साध्य का साधन नहीं है। यह साध्य और साधन दोनो है।
3. "जो है" उसको देखना और उसके पार चले जाना ही ध्यान है।
4. ध्यान करने का अर्थ है, समय के प्रति अबोध हो जाना।
5. ध्यान मन के भीतर बहज्योति है जो क्रिया के मार्ग को अवलोकित करती है और इस ज्योति के बिना प्रेम का कोई अस्तित्व नहीं है।
6. ध्यान का अर्थ है ऊर्जा का एमग्र रूप से निर्बन्ध और निर्मुक्त हो जाना।
7. मौन से जन्म लेने वाली क्रिया ही ध्यान है।

8. ध्यान विचार से मुक्ति है तथा सत्य के आनन्द में जीना है।

9. ध्यान मन की वह अवस्था है जिसमें मन प्रत्येक चीज़ को पूॅर्ण होश के साथ समग्रता पूर्वक देखता है न कि उसके केवल खण्डों को।

10. ध्यान एकाग्रता नहीं है। एकाग्रता का अर्थ है बहिष्कार अलगाव, प्रतिरोध और संघर्ष एक ध्यान में पूॅर्ण मन एकाग्र हो सकता है– तब यह बहिष्कार और प्रतिरोध नहीं है, लेकिन एक एकाग्र मन ध्यान पूॅर्ण नहीं हो सकता।

<u>एकाग्रता अवधान और सजगता</u> :–

जब हम अपनी चेतनशक्ति को समग्र परिवेश से हटाकर एक विशेष बिन्दु पर केन्द्रित करते है तब इसे एकाग्रता कहते है। ज्ञान प्राप्त करने की प्रकिया में एकाग्रता का सबसे अधिक महत्व होता है। लेकिन, मन की पूॅर्णता को जानने में एकाग्रता बाधक होती है। अवधान सम्पूर्ण का वह अवलोकन है, जिसमें तादात्म या तिरस्कार का पूॅर्ण अभाव होता है। एकाग्रता सीमाबद्व होती है और ध्यान असीम होता है। एकाग्रता संज्ञान होता है जबकि अवधान से अवबोध होता है।

एकाग्रता में एक के अतिरिक्त अन्य का तिरस्कार होता है, जबकि अवधान निःसंकल्प अवलोकन है। आपने परिसंवाद' अंक 2 पृ0 27–28 पर लिखा है :

" एकाग्रता मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित करने की प्रक्रिया है जबकि अवधान की कोई सीमा नहीं है। एकाग्रता से ज्ञान प्राप्त होता है , पर ज्ञान का क्षेत्र सीमित होता है अवधान की अवस्था में मन ज्ञान का उपयोग कर सकता है, जो निश्चित ही एकाग्रता का प्रतिफल है।............ अवधान की वजह से ही मन में शांति आती है जो सृजन के द्वारा खुल जाने जैसा है। इसलिए अवधान का महत्व सर्वोत्तम है।"

अनुसंधान अवधान का प्रकाश पुंज या किरण होता है जिसके प्रकाश में सत्य की खोज आरम्भ होती है। सतर्कता व्यक्ति की वह ऊर्जा होती है जो उसे अत्यन्त सतर्क एवं सचेत बनाकर निरीक्षण करने को प्रेरित करती है। इस क्रिया में हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियां मन तथा हृदय सम्मिलित होकर किया करते है। आपने परिसंवाद (अंक–2 पृ0 27–28) में लिखा है :–

सजगता का अर्थ है – पूँर्णता से अपने समग्र अस्तित्व से अपने पूरे शरीर व समस्त ज्ञान तंतुओं से ,ऑखों और कानों से अपने समग्र मन व सम्पूर्ण ह्दय से सुनना, समझना और देखना ।"

विचारशीलता और संवेदन शीलता –

सामान्य रूप से चिन्तन का परिणाम विचार होता है जो किसी प्रतीक भाषा के द्वारा प्रगट होता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि विचार एक ऐसी प्रकिया का परिणाम होता है जो किसी समस्या , प्रश्न का समाधान प्रति रूपों एवं भावों की सहायता से प्रगट होता है। लेकिन दार्शनिक तौर पर विचार युद्व मन की अनुभूति होता है जबकि शुद्व ह्दय का अनुभव संवेदन है। शुद्व मन एवं ह्दय से किसी चीज़ का अनुभव करने की क्षमता को विचारशीलता और संवेदन शीलता कहते है। इसी से विवेक या प्रज्ञा का जन्म होता है। यदि हम दैनिक जीवन के क्रिया–कलापों का अवलोकन करें तो हमें ज्ञात होगा कि हम बहुत से ऐसे कार्य करते है जिनमें विचार तथा संवेदना का अभाव होता है। इनमें कुछ कार्य हम धार्मिक या सामाजिक दवाव के वश होकर करते है जो निरर्थकता का परिचय देते है। जे0कृष्णमूर्ति जी का मत है कि यदि आप सचमुच आदर किसी का करते है तो आफ फूलो की खूबसूरती का विनाश न करें बल्कि रास्ते से कॉटे या पत्थर हटा दें ताकि राहगीर को सुविधा हो सके। इसी तरह से बगीचे का विकास करें ताकि और फूल–फल विकसित हो सके। लेकिन हमारे अन्दर विचारंशीलता नहीं है, इसीलिए हम नहीं जानते कि प्रेम क्या है?

मानव मात्र के पास ध्यान रूपी हथियार है जिससे हमारे ह्दय में संवेदनशीलता और मन में विचारशीलता प्रकट होती है। परिणाम स्वरूप हम व्यक्ति, पशु, पक्षी तथा वृक्ष आदि के प्रति प्रेम प्रकट करते है और सभी सुखी रहे की भावना से ओतप्रोत हो जाते है। विचारशीलता व्यक्ति को निष्क्रिय बना देती है। संवेदनशील व्यक्ति के ह्दय में प्रेम तथा प्रज्ञा प्रकट होती है। ऐसा व्यक्ति हमेशा आनंदित रहता है। वह आनन्द को ही ईश्वर मानता है, इसलिए न वह प्रार्थना करता है और अन्य तरह से ईश्वर की खोजा/संवेदनशील व्यक्ति के लिए जे0कृष्णमूर्ति ने कहा है :–

"संवेदनशील होने का अर्थ है– व्यक्तियों , पक्षियों , फूलों वृक्षों के लिए करूणा महसूस करना। इसलिए नहीं कि वे आपके है , परन्तु इसलिए कि आप वस्तुओं को अदभुत सौन्दर्य के प्रति जागरूक है।" (संस्कृति का प्रश्न पृ0 177)।

वास्तविक ध्यान :–

जब हम किसी की आराधना करते है, तो उसका ध्यान करते है जो साधना कहलाती है जिसमें हमारा मनलीन रहता है यह ध्यान मन को किसी चीज़ के प्रति संकुचित करता है जो एक प्रकार की निषेध की क्रिया है। ध्यान की वास्तविकता में मन को किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित किया जाता है , यदि किसी कारण से मन हट जाता है तो इसे विचलन माना जाता है। मन के हटने का संज्ञान होने पर हम प्रतिकार करते है , जिससे हमारी ऊर्जा नष्ट होती है। कृष्णमूर्ति जी के मत से आम व्यक्ति ध्यान करता है तो उसकी एकाग्रता भंग होती रहती है और वह उसका विरोध करता है जिसमें उसकी आंतरिक शक्ति का व्यय होता है। इसके विपरीत यदि आप मन की प्रत्येक हरकत के प्रति–प्रति क्षण सावधान रहे तब न तो मन का विचलन होगा और न प्रतिकार। इस प्रकार से हम अपनी नष्ट होती ऊर्जा को आसानी से बचा सकते है। जैसाकि एक उदाहरण से आपने स्पष्टता (ध्यान) प्रस्तुत की है :–

"आप घंटी की आवाज और घंटी की आवाज की चोटो की बीच की स्तब्धता दोनो को सुने तो यही सम्पूर्ण या वास्तविक होता है। इसी तरह से व्यक्ति के बोलने और शब्दों के बीच की शांति को महसूस करना ही ध्यान होता है जिसमें किसी भी प्रकार का विचलन नहीं होता है बल्कि तल्लीनता होती है जो बाह्य परिवेश को भुला देती है।"

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि ध्यान वह अवस्था है जिसमें एक व्यक्ति दो वस्तुओं के अन्तराल के रिक्त स्थान को महसूस करता है। इसी स्तब्धता की अनुभूति का परिणाम ध्यान की अवस्था होती है।

<u>सौन्दर्य सम्बन्धी विचार</u> :–

मनुष्य सदैव से आशावादी रहा है। वह अपनी इच्छाओं आकांक्षाओं को पूरा करने में जीवन ऊर्जा को समाप्त करता रहता है। ये आकांक्षायें में धन पैदा करना, पद–प्रतिष्ठा संग्रहीत करना या स्वंय के व्यक्तित्व का प्रभाव फैलाना आदि होती है। वह कभी भी ध्यान की गहराइयों में जाकर सौन्दर्य की परख नहीं करता है। जे0कृष्णमूर्ति का विश्वास है कि यदि कोई व्यक्ति ध्यान करना नहीं जानता है तो वह परिपक्व नहीं है क्योंकि ध्यान जीवन की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया हहै। जब हमारा चेतन मन समस्त क्रिया–कलापों के प्रति सजग तथा होश में होता है और किसी के प्रति द्वेष–भाव, राग–भाव नहीं होता है , तो इस अवस्था को चुनाव रहित सजगता कहते है। चुनाव रहित सजगता से जब पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है तो अपने चारो ओर का वातावरण एक विशेष सौन्दर्य से प्रदीप्त हो जाता है। सौन्दर्य की अनुभूति में "स्व" नहीं होता है अतः सौन्दर्य का एक छत्र राज्य होता है। आपने "संस्कृति का प्रश्न पृ0 157 पर लिखा है :–

"सौन्दर्य को समझना यानी हृदय में करूणा की अनुभूति होना, जिसका आगमन तब होता है जब हमारा मन व हृदय किसी सुन्दर वस्तु के प्रति बिना किसी रूकावट के पूर्णतः सम्बादित होता है ताकि हम निश्चित रूप से अखण्ड आनन्द महसूस कर सकें। जीवन में ऐसा आन्नद बड़ा ही महत्वपूर्ण है, और जब तक सौन्दर्य के प्रति हमारे हृदय में इस प्रकार की अनुभूति नहीं होती तब तक हमारा जीवन छिछला बना रहता है। भले ही कोई व्यक्ति किसी महान सौन्दर्य से सर्वदा घिरा रहता हो, चाहे उसके चारो ओर पर्वतों की श्रृंखला हो, चारो ओर खेत हो , सरिता हो, लेकिन जब तक इन सबके प्रति सजग नहीं है तब तक यह सब उसके लिए निर्जीव है।"

<u>प्रार्थना और प्रेम</u> :–

संसार के प्रत्येक धर्म एवं सम्प्रदाय ने याचना, प्रार्थना आदि का विकास किया ताकि वह उस शक्ति के स्वरूप को सत्य या ईश्वर या खुदा के रूप में जान सके। प्रार्थना एक प्रकार की मांग है जो हमें कुछ प्राप्ति के प्रति आगाह करती है। यह "स्व" को याचक के रूप में प्रस्तुत करती है।

क्या प्रार्थना के बदले जो मिलेगा, वह सत्य है? नहीं ''स्व'' सीमा में रहने वाला असीम ''सत्य'' को नहीं प्राप्त कर सकता है। प्रथम और अंतिम मुक्ति (पृ0 197) में जे0कृष्णमूर्ति लिखते है :–

" एक ऐसा मन जो भ्रन्त है, अज्ञानी है, लोलुप है, लालची है , याचक है , वह कैसे यथार्थ को समझ सकता है? मन केवल तभी यथार्थ को ग्रहण करता है जब वह पूर्णतया शांत होता है। जब वह कुछ मांग नहीं करता, कुछ लालसा नहीं करता, कुछ नहीं चाहता, चाहे वह अपने लिये हो अथवा राष्ट्र के लिए हो अथवा किसी दूसरे के लिए । जब मन पूर्णतया शांत होता है जब आकांक्षा का लोप हो जाता है, केवल तभी यथार्थ अभिव्यक्त होता है।"

सामान्य तौर पर प्रेम शब्द दो रूपों में प्रयोग किया जाता है । एक–वात्सल्य के रूप में तथा दूसरा–स्त्री–पुरूष सम्बन्ध के रूप में। आज द्वितीय अर्थ को ही प्रमुखता मिली हुई है क्योंकि उसमें पाशविक प्रवृत्तियां–वासनायें , आकांक्षायें और काम प्रवृत्तियां आदि का प्रयोग होता है। वात्सल्य के शुद्व प्रेम तो बड़ा ही विलक्षण होता है। इसमें अपने प्रिय सुख, स्मृति और प्रतीकें के बारे में नहीं सोचा जाता बल्कि सभी का निषेद करते हुए जो शेष रह जाता है वही प्रेम होता है। इसके अन्दर कोई विचार ईर्षा–द्वेष, उपयोग अनुपयोग आदि का भ्रम नहीं होता है क्योंकि ये सभी चीज़े मन की होती है। जे0कृष्णमूर्ति जी के अनुसार :–

" जो प्रेम नहीं है, उसके निषेध द्वारा जो प्रेम है वह प्रगट होता है। मुझे पूँछना नहीं रह जाता कि प्रेम क्या है, मुझे उसके पीछे भागना भी नहीं होता है। यदि मैं उसके पीछे भागता हूँ तो वह प्रेम नहीं है , यह तो पुरूस्कार है। अतः मैंने निषेध का आश्रय लिया है। मैं अपने अन्वेषण में शनः शनः सावधानी पूर्वक, विकृति रहित, भ्रान्ति रहित, समाप्ति पर पहूँच गया हूँ, जहां यह नहीं है, वहां वह (प्रेम) है (प्रेम पृ0 12)।"

ईश्वर सम्बन्धी विचार :–

संसार के सभी दर्शनों ने एक मत से संसार का नियंता ईश्वर को माना है। प्रत्येक संस्कृति , धर्म, सम्प्रदाय आदि द्वारा मनमानी करके एक ईश्वर की रचना कर ली है जो अपनी सत्ता, इच्छा

द्वारा सारे संसार को चलाता है। वह सृष्टि का निर्माता ही नहीं है बल्कि पालनकर्ता और संहारकर्ता भी है। उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता हे। भाग्यवादी दर्शन के आधार पर ईश्वर सातवें आसमान पर बैठ कर सब के भाग्य का फैसला करता है। सभी के कर्मो के अनुसार सुख दुःख का फल देता है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने ईश्वर का विरोध नहीं किया है बल्कि उस परम शक्ति का वर्णन विचारो द्वारा नहीं किया जा सकता है , बल्कि अनुभव किया जा सकता है। जैसा आपने लिखा है :–

"मैं ईश्वर का निषेध नहीं कर रहा हूँ , ऐसा करना मूर्खता होगी। केवल वही व्यक्ति जो यथार्थ को नहीं जानता, निरर्थक शब्दों में लिप्त होता है। वह व्यक्ति जो कहता है कि वह जानता है , नहीं जानता है और उस व्यक्ति के पास जो यथार्थ का क्षण–क्षण का अनुभव है, यथार्थ के विषय में विचार सम्प्रेक्षण का कोई साधन नहीं है" (प्रथम और अंतिम मुक्ति पृ0 185)।

आपने किसी मूर्ति या प्रतीक को ईश्वर नहीं माना है, क्योंकि इनका निर्माण मानव ने अपने स्वार्थ हेतु किया है। ईश्वर किसी मंदिर में स्थापित प्रतिमा नहीं हो सकता और न वैदिक मंत्रों के शब्दों में हो सकता है। शब्द और प्रतीक यथार्थ से बिल्कुल भिन्न होते है। आपने इस विचार को एक उदाहरण से समझाया है। किसी राष्ट्र का ध्वज़ राष्ट्र नहीं होता है न किसी सम्प्रदाय का प्रतीक वह सम्प्रदाय ही होता है। इसी प्रकार से ईश्वर शब्द ईश्वर नहीं है। शब्द वस्तु नहीं है क्योंकि सत्य या ईश्वर असीम और कालातीत है, उसे किसी इमारत में बन्द नहीं किया जा सकता है। जो ईश्वर मंदिर में बन्द है वह तो हमारी पलायन वादिता के कारण मन की उपज है , जिसे प्रतिमाओं के रूप में महिमा मंडित किया गया है। वास्तविक सत्य तो सर्वत्र विद्यमान है। आपने अपनी कृति–संस्कृति का प्रश्न (पृ0 73) पर लिखा है :–

"सत्य का आभास नीचे गिरी एक सूखी पत्ती, रास्ते के किनारे पड़े एक पत्थर से मिल सकता है। यह उस पानी में, जो संध्या के सौन्दर्य को प्रतिविम्बित करता है, बादलों में भारी बोझा ढोती हुई स्त्री की मुस्कान में उपलब्ध हो सकता है। यह जरूरी नहीं कि मंदिर में ही सत्य हो। सत्य तो समस्त विश्व में विखरा पड़ा है और साधारण तया मंदिर में सत्य होता ही नहीं, क्योंकि उस का निर्माण मानव भय के कारण हुआ है। ईसाई धर्म के गिरजाघर, मुसलमानों की मस्जिदें , आपका हिन्दू मंदिर ये सब मनुष्यों को बॉटते है।"

जे0कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि जो दार्शनिक ईश्वर को या सत्य को मुटठी में बन्द करना चाहते है वह हवा को मुट्ठी में बन्द करने के समान है, जो असत्य है और असम्भव है। ईश्वर सर्वत्र असीम, अवर्णनीय और सदा वर्तमान है। वह शब्दों की सीमा से परे है। ईश्वर कभी भी दृश्य नहीं बन सकता है बल्कि परम मौन की अवस्था में स्वंय ही प्रकट हो जाता है। आपने लिखा है :—

"यदि मन यह सब भलीभांति समझ लेता है तो सम्भवतः वह जिसे आप "सत्य" कहलें अथवा ईश्वर या अनन्त या असीम या समयातीत, कहलें, जिसकी खोज़ सदियों से चल रही है, बिना आमंत्रण के ही उपस्थित हो जाता है जो वस्तुतः पहले से ही था " (गरूण की उड़ान पृ0 37)।

<u>धर्म सम्बन्धी विचार</u> :—

सामान्य विचार धारा अनुसार धर्म का आधार (मानवीय) वे विचार धाराये प्रचलित है जिनके द्वारा विभिन्न लोग अपनी वाहय आस्था का प्रगटिकरण उस परम सत्ता के प्रति विभिन्न तरीकों से अर्पित करते है। हिन्दू लोग धर्म को मंदिर में या निर्जन स्थान पर एकाग्रता द्वारा मंत्र पाठ, प्रतिमा की पूजा तथा माला जप द्वारा प्रगट करते है। मुस्लिम सम्प्रदाय मस्जिद में "अल्ला" पाक की इबादत करके, कुरान शरीफ की आय तों को बांच कर धर्म में आस्था प्रगट करते है तथा ईसाई जन अपने गिरजाघर में जाकर ईसा मसीह के सामने जाकर प्रार्थना करते है। इसके साथ ही कथित पवित्र स्थानों को तीर्थ मानकर यात्रा करना, नदियों में स्नान करना आदि क्रिया कलापों को मानवीय नाटक, जो धर्म, धार्मिक जीवन और धार्मिकता को प्रगट करते है केवल बाहय शुद्वि या पवित्रता का आडम्बर मात्र है, धर्म नहीं। आपका कहना है :—

"क्रिया काण्ड धर्म नहीं है। मंदिर में जाने में और विश्वास रखने में भी धर्म नहीं हैं। श्रद्धा मनुष्यों को बॉटती है। अतः श्रद्धा–विनाश ,दुश्यमी और विभाजन को जन्म देती है। यह निश्चित ही धर्म नहीं है।" (संस्कृति का प्रश्न पृ0 30)।

अब प्रश्न उठता है कि वास्तव में धर्म क्या है? जे0कृष्णमूर्ति का विश्वास है कि जब हम शुद्व एवं साफ शीशे द्वारा वस्तुओं का अवलोकन करते है तो वे अपने सही तथा यथार्थ रूप में दिखलाई देती है, वैसे ही मानव अपने मन को विचारों , विश्वासों , परपम्राओं तथा प्रतिबद्वताओं आदि विकृतियों से जब मुक्त कर लेता है, तब वास्तविक धर्म को हम समझ सकते है। आपने "संस्कृति का प्रश्न (पृ0 31) पर लिखा है :–

"जब अपने मन से इन समस्त शब्दों ,मंत्रों, उच्चारणों, प्रतीकों, प्रतिमाओं, कियायों ओर अवसादों की धूल एकदम स्वच्छ कर दी जाती है तब आप जो भी देखेगें वह सत्य होगा, समयातीत होगा, चिरंतन होगा, जिसे आप भले ही परमात्मा कहले, लेकिन इसके लिए गहरी सूझ, बोध–क्षमता और प्रतीक्षा की आवश्यकता होती है। यह केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए संभव है जो सचमुच यह खोज करते है कि धर्म क्या है और इस खोज को अंत तक चालू रखते है। केवल वे ही पुरूष जान पाते है कि धर्म क्या है? अन्य सभी व्यक्ति केवल शब्दों के साथ खिलवाड़ कर रहे है।"

आज का मानव भौतिकवाद तथा मन के भटकाव में इतना भ्रमित हो चुका है कि आडम्बर की बाहय क्रियाओं को करके स्वंय की धार्मिकता प्रदर्शित करता है। जबकि धार्मिकता मन की एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति सदा ही वास्तविक धर्म के प्रति जिज्ञासु होता है। ऐसा मन जिसमें किसी प्रकार का तनाव, निराशा तथा द्वन्द नहीं है, धार्मिक मन कहलाता है। धार्मिकता की अवस्था में सत्य या ईश्वर का साक्षात्कार होता है। सत्य को आमंत्रित नहीं किया जा सकता है, वह तो मन के शुद्व दर्पण में स्वंय ही उद्घाटित हो जाता है। आपने कृति "ज्ञात से मुक्ति "(पृ0–135–136) में लिखा है :–

"मन की वह अवस्था जब वह किसी संघर्ष या प्रयास के काबिल नहीं रह जाता है , वही सच्चा धार्मिक मन है, और मन की इसी अवस्था में आपका साक्षात्कार उस चीज़ से हो जाता है ,

जिसे सत्य वास्तविकता, परमानन्द , परमात्मा,सौन्दर्य, प्रेम इत्यादि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। इस चीज को आप आप आमंत्रित नहीं कर सकते , इसे आप ढूँढ़ भी नहीं सकते, क्योंकि मन उसके लिए छोटा पड़ जाता है।''

धार्मिकता या धार्मिक मनः स्थति किसी बाह्य कर्मकाण्डों का दिखावा मात्र नहीं है बल्कि धार्मिक मनःस्थति में जीना कहलाता है। धर्म की वास्तविकता को समझने से ही धार्मिक मन का सृजन होता है। धर्म भाव की इसी स्थिति को प्राप्त जीवन, वास्तव में धार्मिक जीवन होता है और धार्मिक जीवन ही वास्तविकता जीवन है। आपने 'संस्कृति का प्रश्न, (पृ0 61) पर लिखा है :–

''सचमुच जीवन का अर्थ है किसी वस्तु को जिसे आप प्रेम करते है अपनी पूरी समग्रता के साथ करना, ताकि आप में ''आप जो कर रहे है और ' आपको जो करना चाहिए ' इनमें किसी प्रकार की विसंगति न हो , संघर्ष न हो। तब हमारे लिये यह जीवन अखण्ड समग्रतामय प्रक्रिया हो जायेगी, जिसमें अनन्त आनन्द है। लेकिन यह तभी हो सकता है जब आप मानसिक दृष्टि से किसी व्यक्ति अथवा समाज पर अवलम्बित न हो , यानी अन्तर अनासक्ति पूर्ण हो। ऐसी अवस्था में आप जो कुछ करेगें, उसे प्रेम से करेंगे और उसी प्रेम से अलौकिक सृजनशीलता की अनुभूति होती है।''

<u>काम भावना सम्बन्धी विचार</u> :– आज के भौतिक युग में, काम भावना को काम वासना के रूप में विभिन्न आयामों में तथा साधनों के माध्यमों से जनसाधारण के सामने परोसा जा रहा है जिससे हमारी युवा पीढ़ी कामवृत्ति , ब्रह्मचर्य एवं सर्जनशीलता के वास्तविक अर्थ से दिगभ्रमित हो रही है। परिणाम स्वरूप बलात्कार के हादसों में अत्यधिक बृद्दि हो रही है जो स्त्रिी सम्मान में विकृति का घोतक है। काम वासना एक महत्वपूर्ण मानवीय समस्या है। वर्तमान समय के सामान्य जन तक इसके मोह पास में बँध चुके है। मनोवैज्ञानिकों तथा दर्शन शास्त्रियों ने इसको मुख्य प्रेरक के रूप में लिया है जिससे पलायन नहीं किया जा सकता है। इसके सकारात्मक नियंत्रण के लिए ब्रह्मचर्य एक मात्र साधन या उपाय माना जाता है। आज के सोच में ब्रह्मचर्य को विभिन्न रोगों का सृजनकर्ता माना है। दमित कामवासना के लक्षण से मानसिक रोग उत्पन्न होते है जो मानव मात्र के सहज जीवन यापन में व्यवधान डालती है। जे0कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि काम भावना हमें आनन्द देती है, जिसमें हमारे 'मैं रूपी अहंकार का विसर्जन हो जाता है। अहंकार शून्य अवस्था का नाम ही आनन्द है। हम जाने–अनजाने इसी अवस्था को प्राप्त करने की कोशिश करते है।

व्यक्ति के जीवन में अहंकार की भावना का प्रभाव विशिष्टि स्थान रखता है। इससे बचने के लिए व्यकित कलात्मक , सौन्दयत्मिक तथा रचनात्मक क्रिया–कलापों को अपनाता है। सामान्य तौर से हमारे सभी कार्य अहंकार में वृद्वि करते है ; फिर भी जाने अनजाने इन सब से छुटकारा पाना चाहते है क्योंकि यही ऐसा क्षण है जब हमें आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार से हम दोहरी जीवन प्रणाली के साथ जीवन जीने को मजबूर होते है। अहंकार नष्ट के लिए जो भी कार्य करते है उसमें कामवृत्ति महत्वपूर्ण भूमिका वहन करती है। यह एक ऐसी प्राकृतिक क्रिया है जिसमें क्षण भर के लिए ही सही, हमारे अहंकार का पूर्ण–रूपेण विसर्जन हो जाता है और हम आनन्द की अनुभूति कर लेते है। चूंकि इस क्रिया के लिए हमें दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है, इसलिए हमारा अहंकार इसकी निन्दा करता है और ब्रह्मचर्य पर बल देता है। चूंकि कामवासना एक ऐसी मूलप्रवृत्ति है जिससे बचकर रहना बड़ा ही कठिन है। अतः ब्रह्मचर्य के सहारे इसके द्वारा व्यक्तियों में अनेक विकृतियां उत्पन्न हो जाती है। जे0कृष्णमूर्ति जी, परिसंवाद अंक–10, (पृ0 25) लिखते है :–

"जब आपके जीवन में केवल एक ही चीज़ ऐसी होती है जो आपके पलायन का तथा स्वंय को पूर्णतः भूल जाने का आखिरी रास्ता है, भले ही वह कुछ सैकेण्डों के लिए ही हो, तो आप उससे चिपके रहते है क्योंकि वही एक मात्र ऐसा क्षण है जब आप सुखी है"। लेकिन जब आप उससे चिपक जाते है तो वह भी दुःस्वप्न बन जाता है क्योंकि तब आप उससे मुक्त होना चाहते है आप उसके गुलाम नहीं होना चाहते है अत' आप पुनः अपने द्वारा ब्रह्मचारी और शुद्व होने का प्रयास करते है।"

इस प्रकार से कामवृत्ति एक समस्या का रूप बन चुकी है। मानव मन की संरचना ऐसी है कि वह प्रत्येक क्रिया को समस्या में परिवर्तत कर देता है। व्यक्ति का काम करना, पैसा अर्जित करना, सोचना, विचारना, अनुभव करना, कामवासना का सुख लेना आदि जीवन के सभी क्रिया कलाप हमारे लिए समस्या क्यों बन जाते है।? इसके पीछे हमारे सोच का एक विशेष दृष्टिकोण होता है जो एक ही प्रकार से प्रत्येक क्रिया की अनुभूति करते है। मनोवैज्ञानिकों ने भोजन, प्यास की तरह से ही यौन क्रिया को भी आन्तरिक प्रेरणा तथा आवश्यकता माना है। कोई भी क्रिया या विचार

हमारे लिये तब समस्या बन जाती है जब हम निरन्तर उसका चिन्तन करते रहते है और वह एक विचार बन जाती है, अभिप्रेरणा नहीं। आपने लिखा है :-

"अन्ततः व्यक्ति द्वारा किया गया कार्य सिर्फ काम वासना ही नहीं होता है बल्कि एक समस्या बन जाता है । काम वासना समस्या नहीं है बल्कि मन ही समस्या है जो यह कहता है कि मुझे ब्रह्मचारी होना चाहिए ब्रह्मचारी मन की वस्तु नहीं है मन तो इसका दमन कर सकता है और दमन ब्रह्मचर्य नहीं है। यदि कोई व्यक्ति ब्रह्मचारी बनना चाहे वह बन नहीं सकता। " ब्रह्मचर्य को आप तभी जान पायेंगे जब प्रेम होगा और प्रेम मन की वस्तु नहीं है।"

आज वर्तमान पीढ़ी में काम वासना एक समस्या बन चुकी है हमारी पश्चिमी संस्कृति उन्मुक्त यौनाचार में संलिप्त है अतः यह प्रश्न उठता है कि हम इस समस्या से अपना छुटकारा कैसे पायें जे0कृष्णमूर्ति का विचार है कि काम वासना एक क्रिया समस्या नहीं है अथवा इसका विचार करना ही समस्या का कारण है इसलिए इस समस्या का अन्त तभी होगा जब विचार करने वाला मन समाप्त हो जायेगा। विचार कर्ता की समाप्ति के लिए विचार की सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझना चाहिए। जब सरलता और चुनाव रहित सजगता होती है तो तथ्य में जो चीजे अर्न्तनिहित होती है वह अपने आपको प्रगट करने लगती है। इस प्रकार से तथ्य से रूप में विचार का अन्त हो जाता है और विचार के अन्त से विचारकर्ता का अन्त हो जाता है क्योंकि विचारक ही विचार हे। इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि कामवासना के दमन का परिणाम ब्रह्मचर्य नहीं है अपितु विचारकर्ता के समाप्ति का परिणाम है। इसीलिए वैदिक शास्त्रों में ब्रह्मचर्य को सृजनशीलता के साथ जोड़ा गया है। जो मानव जीवन को सुख एवं आनन्द प्रदान करता है। आपने "परिसम्बाद" अंक दस (पृ0 27) में लिखा है :-

"परन्तु जब मन अपनी पूरी प्रक्रिया को समझ लेता है और इसलिए समाप्त हो जाती है यानि जब विचार प्रक्रिया का अन्त हो जाता है तब सृजनशीलता जन्म लेती है । जो सुख प्रदान करती है। सृजनशीलता की उस अवस्था में होना ही आनन्द है क्योंकि वह ऐसा आत्म विस्मरण है जिसमें " मैं" से निकलने वाली प्रतिक्रिया नहीं होती है। कामवासना की दैनिक समस्या का यह

कोई गूढ़ समाधान नहीं है– यही एक मात्र समाधान है। मन ही प्रेम का निषेध करता है और प्रेम के बिना ब्रह्मचर्य नहीं होता, और चूंकि प्रेम नहीं है इसलिए आप कामवासना को एक समस्या बना लेते है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान संसार में यदि परिवर्तन लाना है तो जे0कृष्णमूर्ति की मौलिक विचार धारा का सरल तरीके से अनुपालन करना चाहिए । आज मानव के समक्ष दो ही समस्यायें है एक भौतिक सुखों को प्राप्त करना और दूसरी साम्राज्यवादी लिप्साओं को पूरा करना इसलिए व्यक्ति अपने को नाभिकीय अस्त्रों से सुसज्जित कर रहा है जो मानवता को विनाश की ओर ले जा रही है। आज हम एक नवीन संस्कृति का निर्माण करें जो न पूरब की हो न पश्चिम की जिसके द्वारा मानव जाति का हित हो सके और प्रत्येक व्यक्ति धर्म के सत्य को पहचान सके जैसाकि अमेरिका के राष्ट्रपति जे0एफ0कैनडी ने कहा है " जब तक मानव हृदयों में शान्ति की स्थापना नहीं होती उस समय तक संसार में शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती।"

अध्याय– चतुर्थ

जे0कृष्णमूर्ति जी की शैक्षिक विचारधारा

(1) शिक्षा का अर्थ

(2) शिक्षा के कार्य

(3) शिक्षा के उद्देश्य

(4) शिक्षा का पाठ्यक्रम

(5) शिक्षण–विधियां

(6) शिक्षक

(7) शिक्षार्थी

(8) अनुशासन

(9) विद्यालय

चतुर्थ – अध्याय

जे0कृष्णमूर्ति जी की शैक्षिक विचारधारा

व्यक्तियों की अभिवृत्तियों का परिष्कार करना दर्शन का कार्य है। हम अपने दैनिक कार्य में अपने दृष्टिकोण से प्रेरणा लेते है। ये दृष्टिकोण अनेक प्रकार के हो सकते है। इसीलिए ये कहा जाता है कि कि महान पुरूषों के अपने–अपने दार्शनिक दृष्टिकोण होते है। जे0कृष्णमूर्ति जी का शिक्षा के प्रति अपना अनौखा , नवीन तथा व्यापक दर्शन रहा है , जिसका प्रस्तुतीकरण प्रकृतिवाद , विचारवाद, प्रयोजनवाद, तथा यथार्थवाद का सन्दर्भ लेते हुए किया जायेगा। इस प्रकार से आपकी शैक्षिक विचार धारा की विश्वसनीयता स्पष्ट हो सकेगी।

शिक्षा का शाब्दिक अर्थ :–

शिक्षा का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द ''एजूकेशन'' है। एजूकेशन शब्द की व्युत्पत्ति पर पहले से ही लोग विचार करते रहे हे। सर्वप्रथम लोगो ने एजूकेशन को लैटिन के मूल शब्द '' एजूकेटम'' से सम्बन्धित किया। ''एजूकेटम'' शब्द के दो मूल शब्दों ''ए'' तथा ''डूको'' के योग से बना है। ''ए'' का अर्थ है ''अन्दर से तथा ''डूको का अर्थ है'' अग्रसर'' करना। अतः ''एजूकेटम'' शब्द का अर्थ हुआ– अन्दर से बाहर की ओर ले आना। एजूकेशन शब्द के इस मूल रूप से यह प्रकट होता है कि शिक्षा से अध्यापक छात्र को कुछ देता है, वरन् उसकी अन्तर्निहित शक्तियों को प्रस्फुटित होने में सहायता प्रदान करता है। छात्र के अन्दर बहुत–सी मानसिक शक्तियां विद्यमान रहती है। किन्तु ये शक्तियां सुषुप्तावस्था में रहती है। उन्हें बाहर ले आने का कार्य, प्रस्फुटित एवं विकसित करने का कार्य शिक्षा करती है। किन्तु ''एजूकेटम'' शब्द से यह ध्वनित होता है कि शिक्षा कोई वस्तु है जिसके द्वारा छात्र की आन्तरिक शक्तियों का विकास किया जाता है पर शिक्षा कोई वस्तु या पदार्थ नहीं हो सकती। अतः शिक्षा शास्त्रियों का ध्यान लैटिन के दो अन्य शब्दों की ओर गया। ये शब्द है, ''एजूकेयर'' तथा ''एजूकेयर'' प्रथम एजूकेयर का अर्थ है– विकसित करना या निकालना और दूसरे ''एजूकेयर'' का अर्थ है– बढ़ाना, प्रगति करना, उठाना आदि। ये दोनो ''एजूकेयर'' शब्द मूलरूप में

क्रियायें है। शिक्षा भी कोई वस्तु न होकर क्रिया समझ पड़ती है। अतः शिक्षा—शास्त्रियों की दृष्टि में "एजूकेशन" शब्द इन्ही एजूकेयर शब्दों से निकला होगा। इस द्वितीय धारणा से एक बात जो स्पष्ट हो गयी है वह यह है कि शिक्षा में कोई वस्तु न होकर प्रक्रिया है। वस्तुतः व्याकरण की दृष्टि से शिक्षा या एजूकेशन शब्द संज्ञा है। किन्तु अर्थ की दृष्टि से यह प्रक्रिया है।

हमारा "शिक्षा" शब्द भी संस्कृत की "शिक्ष" धातु से निकला है जिसका अर्थ है— सीखना और सिखाना। इससे भी यही प्रकट होता है कि शिक्षा में सीखने—सिखाने की क्रिया होती रहती है।

प्रारम्भ में संस्कृत में "शिक्षा का प्रयोग उच्चारण की शिक्षा देने के लिए होता था। सायण ने अग्वेद भाष्य (पृष्ठ—41) में लिखा है , "स्वरवर्णाद् युच्चारण प्रकारों यत शिक्ष्यते—उपदिश्यते सा शिक्षा" अर्थात जिसमें स्वर वर्ण आदि के उच्चारण के प्रकारों की शिक्षा या उपदेश दिया जाये वह शिक्षा है। तैत्तिरीय उपनिषद में लिखा है, वर्ण, स्वर, मात्रा, बलम, साम, सन्तानः इत्युक्तः शिक्षाध्यायः। शिक्षा के लिए संस्कृत में एक शब्द और है— विद्या। विद्या की व्युत्पत्ति है " वेत्ति अनया सा विद्या" अर्थात् जिससे जाना जाये वह विद्या है। शिक्षा की व्युप्पत्ति होगी "शिक्ष्यते अनया इति शिक्षा' अर्थात जिससे सीखा जाये वह शिक्षा है।

<u>शिक्षा का व्यापक अर्थ</u> :—

शिक्षा निरन्तर चलने वाली एक प्रक्रिया है जो व्यक्ति की गर्भावस्था से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक चलती रहती है। हम शिक्षा को किसी परिधि में नहीं बांध सकते है। जीवन का प्रत्येक अनुभव हमें कुछ न कुछ ज्ञान देता रहता है जो हमारी चयनात्मक प्रवृत्ति के कारण मस्तिष्क में स्थायी अथवा अस्थायी स्थान प्राप्त करता है। संसार की प्रत्येक छोटी या बड़ी घटना ज्ञान की सूचक होती है और हम उससे लाभान्वित होकर अपने व्यक्तित्व का विकास करते है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने माना कि शिक्षा का किसी विचार या सिद्वान्त से कोई लगाव नहीं होता , नहीं वह मन को किसी प्रकार से प्रतिवद्व करती है। शिक्षा का सही अर्थ व्यक्ति के परिपक्व तथा मुक्त होने में , प्रेम तथा अच्छाई में अधिक से अधिक पुष्पित होने में सहायता करना है। इसी में हमारी रूचि होनी चाहिए, न कि बालक को किन्हीं आदर्शवादी नमूने के एक सॉचे में ढ़ालने में।

शिक्षा के व्यापक अर्थ को पाश्चात्य तथा भारतीय मनीषियों ने विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। " सुकरात" के विचार से शिक्षा का अर्थ संसार के सर्वमान्य विचारों को प्रकाश में लाना, जो व्यक्ति के मष्तिष्क में स्वभावतः निहित होते हैं। "प्लेटो" ने अपनी पुस्तक "लाज" में लिखा है कि शिक्षा द्वारा युवक उस उचित तर्क की ओर प्रेरित होते है जो नियमानुमोदित है तथा जो वयोवृद्ध एवं उत्तम व्यक्तियों के अनुभवों द्वारा सच्चे अर्थ में समर्पित है। "अरस्तू" का विचार है कि शिक्षा द्वारा युवकों के रूचिकर वस्तुओं में प्रशिक्षण मिलना चाहिए, ताकि सभी का विकास एक समान होते हुए भी भिन्नता बाला हो। इसी के साथ आपने स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन के निर्माण पर भी बल दिया है। "जानलाक" के अनुसार पौधे कृषि द्वारा विकसित होते है और मनुष्य शिक्षा के द्वारा। संत आगस्तीन प्रेम को ही वास्तविक शिक्षा माना करते है। "फ्रोविल" बच्चों के ऑतरिक गुणों तथा शक्तियों को प्रकाशित करने की प्रक्रिया को शिक्षा मानते है।

पाश्चात्य शिक्षा–शास्त्रियों ने शिक्षा के व्यापक स्वरूप को अपनी सोच, दृष्टिकोण तथा ऑतरिक बल के आधार पर प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही शोधकर्ता को भारतीय मनीषियों के विचारों का अवलोकन करना है ताकि जे0कृष्णमूर्ति जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का सही मूल्यांकन किया जा सके। श्रीमद्भगवत गीता के अनुसार आत्मज्ञान एवं विराट पुरूष का ज्ञान प्राप्त करना ही शिक्षा है। महात्मा बुद्व के संदेश मे व्यक्ति को सत्यान्वेषण करना चाहिए , और नैतिक गुणों को व्यवहार में उतारना चाहिए। "महात्मागांधी" के अनुसार शिक्षा से मेरा तात्पर्य इस प्रक्रिया से है जो बालक एवं मनुष्य के शरीर एवं आत्मा के सर्वोत्कृष्ट रूपों को प्रस्फुटित कर दें। "रवीन्द्रनाथ टैगोर" ने शिक्षा को जीवन और सम्पूर्ण सृष्टि में तादात्म स्थापित करना बताया है। "राधाकृष्णन" के अनुसार–शिक्षा सूचना प्रदान करने एवं कौशलों का प्रशिक्षण देने तक सीमित नहीं है। इसे शिक्षित व्यक्ति को मूल्यों का विचार भी प्रदान करना है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी व्यक्ति भी नागरिक है , अतः जिस समुदाय में वे रहते है उस समुदाय के प्रति उनका भी सामाजिक उत्तरदायित्व है। कवियत्री " सरोजनी नायडू" के विचार से शिक्षा व्यक्ति में आत्म प्रकाशन की अधिकार पूर्ण शैली को खोजने में सच्ची लगन और मौलिकता का विकास करना है। ओशो–शिक्षा मानव आत्मा में जो

कुछ निहित है, उसे अभिव्यक्त करने का माध्यम और उपाय है। सम्यक शिक्षा वह है जो उसे प्रभु होने की ओर मार्गदर्शन दे सके। शिक्षा तब सप्राण होगी, जब वह मात्र आजीविका को ही नहीं, जीवन जीना भी सिखायेगी। मैं सबकुछ जान लूॅ, लेकिन स्वंय की ही सत्ता से अपरिचित रह जाऊं तो वह जानना वस्तुतः जानना नहीं हैं ऐसे ज्ञान का क्या मूल्य जिसके केन्द्र पर "स्वज्ञान" न हो? यदि स्वंय के भीतर अंधेरा हो तो सारे जगत में भरे प्रकाश का हमारे लिए क्या उपयोग है। ज्ञान का प्रथम चरण "स्वज्ञान" से ही उठना चाहिए, क्योंकि ज्ञान का अंतिम लक्ष्य वही है। "

उपर्युक्त पाश्चात्य तथा भारतीय मनीषियों द्वारा की गयी शिक्षा शब्द की व्याख्या से स्पष्ट होता कि जे0कृष्णमूर्ति का शिक्षा से तात्पर्य सभी विचारों का निचोड़ मात्र है। उनके अनुसार शिक्षा का किसी विचार या सिद्वान्त से कोई लगाव नहीं होता , न ही वह मन को किसी विशेष प्रकार से प्रतिवद्व करने का साधन ही है।" शिक्षा का सही अर्थ व्यक्ति को परिपक्व तथा मुक्त होने में प्रेम तथा अच्छाई में अधिकाधिक पुष्पित होने में सहायता करना है।"

शिक्षा एवं दर्शन में सम्बन्धः शिक्षा एवं दर्शन में सम्बन्ध जाने बिना जे0कृष्णमूर्ति जी के शिक्षादर्शन का सिंहावलोकन करना शोधकर्ता के लिए सम्भव नहीं होगा। अतः शिक्षा तथा दर्शन के स्वरूप को परिभाषित तथा विश्लेषित करना होगा। शिक्षा को विज्ञान तथा कला दोनो की संज्ञा दी जा रही है। शिक्षा का सम्बन्ध केवल वाहय जगत से नहीं होता। शिक्षा व्यक्ति के अन्दर परिवर्तन लाना चाहती है और व्यक्ति के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना इसका मुख्य विषय है। इस प्रकार से शिक्षा विज्ञान नहीं हो सकती। शिक्षा में जो निष्कर्ष प्राप्त होते है वे अत्यधिक स्पष्ट एवं निश्चित नहीं होते। विश्वसनीयता एवं वैधता किसी वस्तु को सीमित कर देते है। विज्ञान स्पष्ट एवं निश्चित होने के कारण ही सीमित है। मानव मन इतना अधिक अस्पष्ट है कि उसके विषय में स्पष्ट एवं सुनिश्चित बात कहना विज्ञान को स्वीकार्य नहीं है। विज्ञान का क्षेत्र इसीलिए सीमित है , किन्तु शिक्षा इतनी सीमित नहीं हो सकती है। शिक्षा में आदर्श एवं मूल्य केन्द्रीय स्थान रखते है , लेकिन विज्ञान में इनका कोई मूल्य नहीं है। शिक्षा मानसिक तथा अध्यात्मिक जगत के प्रति सकारात्मक

भाव से विचार करती है। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि शिक्षा केवल विज्ञान नहीं हो सकती है।

डा0रामशकल पाण्डेय (पृ0 52–53) ने दर्शन को विज्ञान से भिन्न माना है। जिस प्रकार से विज्ञान सामान्य मतों एवं तथ्यों को व्यवस्थित करता है, उसी प्रकार से दर्शन भी प्राप्त ज्ञान को व्यवस्थित करता है। दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनो ही तथ्यों का विश्लेषण करता है और कुछ निष्कर्ष निकालता है। दोनो में नियमों की खोज़ तथा सिद्वान्तों को बनाया जाता है। फिर भी दोनो में अन्तर होता है। विज्ञान का क्षेत्र सीमित होता है और दर्शन का क्षेत्र असीमित। विज्ञान समस्त सत्ता का अध्ययन न करके उसके अंश का अध्ययन करता है, जहां पर दर्शन पूरी सत्ता को अध्ययन का क्षेत्र बनाता है। विज्ञान विश्लेषण करता है , दर्शन संश्लेषण करता है। विज्ञान तथ्यों को एकत्रित करता है और आदर्श एवं मूल्यों से कोई भी सरोकार नहीं रखता। जबकि दर्शन तथ्य तथा मूल्य दोनो में समान रूचि प्रगट करता है। अतः दर्शन एवं विज्ञान दोनो में भी भिन्नता स्पष्ट होती है।

शिक्षा को कला के रूप में माना गया है क्योंकि इसका पक्ष शिक्षण से प्राप्त आनन्द से है। जो आनन्द कवि तथा संगीतज्ञ को प्राप्त होता है , वही आनन्द शिक्षक को प्राप्त होता है। मानवमन के बोध, भाव और क्रिया तीन पक्ष होते है। बोध इन्द्रिय ज्ञान से प्रारम्भ होता है, लेकिन समाप्त मनन द्वारा निश्चित आकार पर होता है। क्रिया के विषय में हमारा चिन्तन शुभ और अशुभ के विषय में होता है। भाव का कार्य होता है कि वह अनुभवकर्ता एवं अनुभव पदार्थ के भेद को मिटा दें। इस प्रकार से कला का मुख्य कार्य सत्य साक्षात्कार करना है, और शिक्षा का प्रमुख कार्य बालक को परम सत्य का साक्षात्कार करने के योग्य बनाना है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि शिक्षा एवं दर्शन को अलग नहीं किया जा सकता। दोनो एक दूसरे के पूरक है। जिस प्रकार से किसी स्थान पर पहॅुचने के लिए ऑखें और पैर दोनो की आवश्यकता होती है। जहां एक ओर दर्शन जीवन लक्ष्य की ओर इंगित करता है , वहीं शिक्षा उस लक्ष्य तक पहॅुचने का साधन है। जहां दर्शन साध्य को निर्धारित करता है , वही शिक्षा उस

साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन के रूप में प्रयोग की जाती है। अतः शिक्षा एवं दर्शन अन्योन्याश्रित होते है। शिक्षा, दर्शन के अभाव में न तो स्पष्टता प्राप्त कर सकती है , न ही दर्शन शिक्षा के बिना पूर्णता ही प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार से यह कहना सार्थक है कि शिक्षा तथा दर्शन दोनो अभिन्न , पूरक, अप्रथक तथा एक ही सिक्के के दो पक्ष के रूप में होते है।

वर्तमान शिक्षा का स्वरूपः

वर्तमान वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा भौतिकवादी युग के प्रत्येक राष्ट्र ने अपने विकास हेतु शिक्षा को अनिवार्य माना है। परिणाम स्वरूप शिक्षा केन्द्र तथा राज्य सरकारों का अनिवार्य तथा मुख्य कार्य बन चुका है। ताकि वे अपने नागरिकों को मन चाही शकल(शेप) दे सकें। यही रूप वर्तमान शिक्षा के दोषों को प्रगट करता है। आज संसार में रूढ़िवादी तथा संस्कारी शिक्षा का प्रचलन हो रहा है। छात्र/छात्रा संख्या में वृद्वि के कारण विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। विज्ञान की नवीन खोजों एवं विचारों को फैलाने के लिए विभिन्न ग्रन्थों का प्रकाशन असीमित संख्या में किया जा रहा है। इस ज्ञान की उपलब्धि से राष्ट्रीय तथा अंतराष्ट्रीय विवादों तथा युद्वों में वृद्वि हो रही है। सम्पूर्ण मानव जाति धर्म , भाषा, जाति, शासन प्रकार तथा सामाजिक व्यवस्थाओं में बहती जा रही है साथ ही मनुष्य–मनुष्य का शत्रु, आतंकवाद, राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद आदि के रूप में हो रहा है। आज तक विज्ञान ने, मनोविज्ञान ने तथा सामाजिक व्यवस्था ने शिक्षा में अपने अनुसार परिवर्तन किये है, लेकिन मौलिक परिवर्तन किसी ने नहीं किया क्योंकि प्रत्येक समाज अपने–अपने स्वार्थ में उलझा रहा।

आज का प्रत्येक मनुष्य प्रतियोगी तथा सहकारी स्वभाव का बन चुका है क्योंकि वह अपने क्षेत्र में सफलता के झण्डे गाड़ना चाहता है। इस कारण से उसमें अहंकार की वृद्वि होती है और वह अपनी संस्कारिकता से छुटकारा पाना चाहता है, जो सम्भव नहीं लगता। अतः वह समस्याओं में सदैव उलझा रहता है। वर्तमान शिक्षा के पास इसका कोई हल नहीं है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने "संस्कृति का प्रश्न ,(पृ0 20–21) में लिखा है :–

''दुर्भाग्यवश आज की शिक्षा का उद्देश्य है स्वामित्वपूर्ण समाज की मान्यताओं को स्वीकार करने और इसके अनुकूल बनने में आपकी सहायता करना। आपके माता–पिता, आपके शिक्षक, और आपके ग्रन्थों का सरोकार सिर्फ इसी बात से है। जहां तक आपको समाज की मान्यतायें मंजूर है, जहां तक आप महत्वाकांक्षी है, अधिकार लोलुप है और शक्ति व प्रतिष्ठा की खोज में दूसरों को दूषित और नष्ट किये जा रहे है , वहां तक आप सम्मानित नागरिक समझे जाते है। लेकिन यह शिक्षा नहीं है। ये तो आपको समाज के ढॅाचे के अनुकूल गढ़ने की प्रक्रिया मात्र है।''

आज की शिक्षा की समस्या उपाधियां प्राप्त करके एक अदद् नौकरी पाने की है। अधिक से अधिक धन, पद, मान हथिया लेने की है जो हमें अधिक से अधिक हिंसक बना रही है। इस प्रकार से हम अपनी शक्ति तथा ऊर्जा को व्यर्थ में गवां रहे है और मनुष्य बनने से दूर होते जा रहे है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने अपनी कृति संस्कृति का प्रश्न, प्र01 मे लिखा है :–

'' निश्चित रूप से शिक्षा व्यर्थ साबित होगी , यदि वह आपको इस विशाल और विस्तीर्ण जीवन को , इसके समस्त रहस्यों को, इसकी अदभुत रमणीयताओं को, इसके दुःखों और हर्षो को समझने में सहायता न करें।''

वर्तमान प्रशासन का उत्तरदायित्व भयरहित समाज की स्थापना करना सुनिश्चित किया गया है , लेकिन वर्तमान शिक्षा प्रणाली बच्चों के मन में भय हटाने के स्थान पर उनमें भय उत्पन्न करने में सहयोग कर रही है। अतः जे0कृष्णमूर्ति जी का मानना है :–

''हममें से अधिकांश व्यक्ति ज्यो–ज्यों बड़े होते जाते है, त्यों–त्यों ज्यादा भयभीत होते जाते है। हम जीवन से भयभीत रहते है, नौकरी के छूटने से, परम्पराओं से और इस बात से भयभीत रहते है कि पड़ोसी , पत्नी–पति या बच्चें क्या कहेंगे। हम मृत्यु से भयभीत रहते है। इस प्रकार से हममेंसे अधिकांश व्यक्ति किसी न किसी प्रकार से भयभीत होते है और जहां भय है , वहां मेद्या नहीं है।''

महान शिक्षाशास्त्री टी0पी0नन् ने बच्चों में स्वाभाविक विकास पर बल दिया है। लेकिन वर्तमान शिक्षा प्रणाली अनुकरण तथा अनुसरण करने के लिए प्रेरित करती है। यह अनुकरण हमारी स्वाभाविकता को समाप्त करती है और निर्भरता में वृद्वि करती है। यही निर्भरता हमारी तन, मन, धन आदि शक्तियों को संघर्ष में व्यर्थ करती है।

महान शिक्षा शास्त्री 'रूसो' का कथन है कि मनुष्य स्वतंत्र जन्म लेता है, लेकिन उसे सामाजिक जंजीरों में जकड़ दिया जाता है जो उसके स्वाभाविक विकास के अवरूद्व ही नहीं करते बल्कि समाप्त ही कर देते है। इसी प्रकार की विचार धारा आज संसार में विद्यमान है जो मानव समाज को देश, राष्ट्र , भाषा, तथा अन्य विवादों के बंधनों में जकड़ चुकी है। परिणाम स्वरूप शिक्षा व्यक्ति की महत्वाकांक्षों की पूर्ति में संलग्न हो रही है न कि मानव विकास में। जे0कृष्णमूर्ति जी ने लिखा है :–

" यह उन महत्वाकांक्षी स्त्रि–पुरूषों की दुनिया है जो प्रतिष्ठा को आत्मसात करके आपसी संघर्ष को जन्म दे रहे है। इनके अतिरिक्त कुछ धर्म गुरु एवं सन्यासी है जो अपने अपने अनुयायियों के साथ पृथ्वी और स्वर्ग में प्रतिष्ठा की चाह में जी रहे हे। यह विश्व पूर्ण भ्रान्ति में जी रहा है। यहां प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी के विरोध में खड़ा है और किसी सुरक्षित स्थान पर पहुॅचने के लिए प्रतिष्ठा, सम्मान, शक्ति व आराम के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहा है। यह सम्पूर्ण विश्व ही परस्पर विरोधी, विश्वासों , विभिन्न वर्गो, जातियों , पृथक–पृथक राष्ट्रीयताओं और हर प्रकार की भूढ़ता और कूरता में छिन्न–भिन्न होता जा रहा है।"

आज शिक्षा देने तथा स्मरण करने या ज्ञान को ग्रहण करने की अनेकों विधियों प्रविधियों तथा शिक्षण सूत्र आदि का प्रयोग हो रहा है। इस प्रकार से ज्ञान को खण्डित करके सीखने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिल रहा है। इससे "स्व" तथा "पर" दो भाव उत्पन्न होते है जबकि जीवन एक अखण्ड सत्ता है जो शिक्षा के समग्र अवलोकन पर निर्भर करता है। अतः सभी को अवलोकन,

निरीक्षण श्रवण और मनन की शिक्षण विधियों को अपनाना चाहिए ताकि अद्वैत भाव का विकास एवं जन्म प्रत्येक मानव में हो सके।

प्रसिद्व मनोवैज्ञानिक ''मैक्डुगल महोदय ने प्राणी में चौदह मूल प्रवृत्तियों का विकास जन्मजात माना है। ये प्रत्येक व्यक्ति की क्रियाशीलता को शक्ति प्रदान करती है। इनको संवेगो के द्वारा देखा जाता है। ये मूल प्रवृत्तियां पलायन (भय) मुमुत्सा(क्रोध), निवृत्ति(घृणा) , पुत्र कामना(वात्सल्य), संवेदना (दुःख) , काम (कामुकता), जिज्ञासा (आश्चर्य), आत्महीनता (अधीनता की भावना), आत्म गौरव(आत्माभिमान), सामूहिकता(एकांत), भोजन की खोज़(भूख) ,संचय(स्वत्व का भाव), रचनात्मकता (कृतिभाव), ह्रास(आमोद) तथा संवेग के रूप है। इनका सही विकास तथा प्रकाशन करना शिक्षा का कार्य होता है। लेकिन आज शिक्षा संवेदनाहीन हो रही है। शिक्षा द्वारा आज के युवाओं में कुंठा, निराशा, विषाद तथा क्रूरता बढ़ रही है जे0कृष्णमूर्ति के अनुसार वर्तमान शिक्षा हमारे मन को प्रतिवद्व करती जा रही है। एक प्रतिवद्व मन वाला व्यक्ति कभी भी किसी घटना को गहराई से देखने की क्षमता नहीं रखता। आज की शिक्षा क्रिया काण्ड तथा औपचारिकता तक ही सीमित रह गयी है , जिससे पाखण्ड पनपता है, और पाखण्डी व्यक्ति किसी भी सत्य को नहीं जान सकता।

आज का व्यक्ति दिखावा तथा बनावटी जीवन जी रहा है जो वर्तमान शिक्षा प्रणाली की देन है। वह निष्क्रिय , अकर्मण्य और आलसी बनता जा रहा है। महात्मा तुलसीदास जी ने श्री रामचरित्र मानस " में वाक पटु तथा दिखावा करने वाले व्यक्ति को अधिक योग्य, महान संत तथा महिमा वाला बतलाया है , यह आज की पहचान है। इसके विपरीत शांत, सहज, तथा कर्मठता का जीवन व्यतीत करने वाले लोगों की घोर उपेक्षा की जा रही है। जे0कृष्णमूर्ति जी का विचार है कि प्रतियोगिता, महत्वाकांक्षा, ईर्ष्या, अकर्मण्यता तथा अनुकरण की धुरी पर घूमने वाली शिक्षा मानव जीवन में कभी भी सुख, शांति, प्रेम, करूणा एवं मैत्री को उत्पन्न नहीं कर सकती, जो मानव को सही रूप में मानव बनाती है।

शिक्षा के कार्य

महान शिक्षा शास्त्री ''जान ल्यूवलाक'' ने शिक्षा के कार्यो के लिये लिखा है कि ''शिक्षा का कार्य वकील, या लोहार , सिपाही या अध्यापक तथा किसान या कलाकार बनाना नहीं है, बल्कि मनुष्य बनाना है। '' इस कथन से स्पष्ट होता है कि शिक्षा का प्रबन्ध व्यवसायी बनाने के लिए नहीं होना चाहिए बल्कि मानवीय गुणों से युक्त व्यक्तित्व का विकास करना होना चाहिए। यहां पर शोधकर्ती जे0कृष्णमूर्ति जी द्वारा वर्णित शिक्षा के विभिन्न कार्यो पर प्रकाश डालेगी ताकि शोध के उद्देश्य को विश्लेषित कर सके।

अंतः क्रिया कौशल :– शिक्षा के द्वारा अध्यापक और शिष्य के बीच ज्ञान का जो आदान–प्रदान होता है , उसका प्रभाव दोनों पर पड़ता है। शिक्षक, बच्चों को समझकर सही शिक्षा देता है और दी जाने वाली शिक्षा के द्वारा दोनो के व्यक्तित्व का कितना विकास हो रहा है, इस प्रभाव को ही अंतः क्रिया बतलाया गया है। मनोविज्ञानी स्टेग्नर का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति उद्दीपथ के प्रभाव से दूसरों को प्रभावित करता है और प्रतिचार के प्रभाव स्वरूप वह अन्य के प्रभाव से स्वंय का विकास भी करता है। इस प्रकार से शिक्षा, शिक्षक तथा शिष्य दोनो को शिक्षित करती है। जे0कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि शिक्षा का कार्य बच्चों को उचित ढंग से शिक्षित करना है ताकि वर्तमान सामाज की बुराईयों को दूर करके नूतन विश्व की रचना की जा सके।

वास्तविक शिक्षा, शिष्य–गुरू के साथ–साथ अभिभावकों को भी शिक्षित करती है। शिक्षा के द्वारा ही मानव मन को बदलने की क्रान्ति सम्भव है। एक तरफ शिक्षा समाज में फैली बुराईयों को नष्ट करती है और दूसरी ओर उन बुराईयों से बचाव भी करती है। जे0कृष्ण मूर्ति जी ने ''संस्कृति का प्रश्न, पृ0–21 में लिखा है :–

''वास्तविक शिक्षा आपको केवल संस्कार मुक्त होने में ही सहयोग नहीं देती है , अपितु वह आपको आपके दैनंदिनी जीवन की सम्पूर्ण प्रकिया को समझाने में भी मदद करती है ताकि आप स्वतंत्रता के साथ बढ़ सके और नूतन विश्व का निर्माण कर सके। एक ऐसा विश्व जो वर्तमान से

विल्कुल भिन्न हो। दुर्भाग्य से न तो आपके शिक्षक, न आपके माता–पिता और नहीं सर्व साधारण व्यक्ति इन विषयों में दिलचस्पी लेते है। इसीलिए शिक्षा–शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनो को शिक्षित करने की प्रक्रिया होनी चाहिए।"

स्वाभाविकता का विकास – समाजशास्त्री मानव बनाम मानव, मानव बनाम समाज और समाज बनाम समाज आदि रूप में मानव–सम्बन्धों की व्याख्या करते है। यदि आज का समाज दूषित हो चुका है तो समस्त समाज के सदस्य भी दूषित हो चुके है। हममें से प्रत्येक पद, प्रतिष्ठा ,शक्ति तथा सम्पत्ति का अधिकार चाहता है, अतः आपस में प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो चुकी है। इस प्रकार की शिक्षा की मान्यता सभी अभिभावक, शिक्षक सरकारें आदि दिये जा रहे है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने "संस्कृति का प्रश्न पृ0–'21" पर लिखा है :–

"शिक्षा का वास्तविक कार्य यह नहीं है कि वह आपको लिपिक, या न्यायाधीश या प्रधानमंत्री बना दें। अपितु इसका कार्य है, आपको इस सदे हुए समाज के सम्पूर्ण ढॉचें को समझने में और "स्वाभाविकता के साथ विकास में सहयोग करना ताकि आप इस समाज से अलग होकर एक स्वाभाविक , अपूर्व समाज या विश्व का निर्माण कर सके। एक ऐसा विश्व जो अधिकार शक्ति और प्रतिष्ठा पर आधारित न होकर स्वाभाविक विकास पर आधारित हो।"

प्रज्ञापूर्ण व्यक्तित्व–

आज भौतिक वाद का विकास ज्ञान की विभिन्न खोज़ो का परिणाम मात्र है, लेकिन वह मानवीय समस्यायों का हल नहीं कर पाया। जब यह समझ में आना प्रारम्भ होता है तो प्रज्ञापूर्ण व्यक्ति का जन्म होता है। प्रज्ञावान व्यक्ति ही ज्ञान का सही–सही उपयोग कर सकता है और अस्तित्व के साथ हमारे क्या सम्बन्ध है? इसको भी वह आसानी से समझ सकता है जो शिक्षा के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अस्तित्व के साथ वृहत सम्बन्ध–जल, हवा , मृदा, पशु पक्षी व्यवहार के साथ समायोजन बनाना भी शिक्षा का कार्य होता है। यह कार्य प्रकृति के साथ स्थापित ऑतरिक

सुसंवादों से विकसित बोध और प्रज्ञा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए जे0कृष्ण मूर्ति जी ने ''शिक्षा केन्दों के नाम पत्र (पृ0—9) में लिखा है :—

'' जब शिक्षा और विद्यार्थी परस्पर सम्बन्धों के असाधारण महत्व को वस्तुतः समझने में जुटे होते है तब वे स्कूल में अपने बीच एक सही और सच्चे सम्बन्ध को स्थापित कर रहे है। यह शिक्षा का ही अंग नहीं है बल्कि, यह मात्र शैक्षिक विषयों को पढ़ाने से कही बड़ी चीज़ है।''

<u>उत्तरदायित्व बोध</u>— सामान्य रूप से उत्तरदायित्व एक अपनत्व है जो व्यक्ति के संस्कारों, जिसमें देश, धर्म, अंधविश्वास , राष्ट्रवाद, वैज्ञानिक, राजनैतिक सिद्वान्तों आदि का संगठन होता है। लेकिन यह सीमित क्षेत्र का परिचायक है। परिणाम स्वरूप आज विश्व से शांति और अमन समाप्त होता जा रहा है। शिक्षा के द्वारा हमें बच्चों को समग्र उत्तर दायित्व का बोध कराना चाहिए, जिससे वे समिष्ट के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वहन जीवन भर कर सके। जैसा जे0कृष्णमूर्ति जी ने शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र (पृ—18) में लिखा है:—

''मनोवैज्ञानिक स्तर पर सभी मनुष्य एक ही जाति के है और उनमें एक ही आत्मा और मानस कियाशील होता है। यदि कोई ध्यानपूर्वक इस मनोवैज्ञानिक ढॉचें का अवलोकन करे तो वह पायेगा कि जैसे वह द्ुःख भोगता है वैसे ही पूरी मनुष्य जाति विभिन्न मात्राओं में दुःख भोगती है। दुःख यंत्रणा, ईर्ष्या, द्वेष और भय सबका अनुभव है। इसी प्रकार मनुष्य मनोवैज्ञानिक रूप से सभी के जैसा होता है और सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति उत्तरदायी भी , न कि सिर्फ स्वंय के प्रति, जो एक मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति मात्र है। प्रत्येक व्यक्ति को यह कला सीखनी है ताकि वह सही उत्तरदायित्व के बोध का निर्वहन कर सके।''

<u>संस्कारों से मुक्ति</u>—

शिक्षा का सही प्रयोग व्यक्ति को इस योग्य बनाना है जिससे वह अपने ज्ञान भण्डार में वृद्वि करते हुए अपने पुराने संस्कारों से मुक्ति लेकर नवीनता को अपनाने में समर्थ हो सके। इस प्रकार से वह सामाजिक बंधनों एवं रूढ़ियों से स्वतंत्र होकर, अनुसंधान और आविष्कारों को प्रोत्साहन

देगा। जब ज्ञान का उपयोग प्रज्ञा के द्वारा होता है तब वह ज्ञान कल्याणकारी होता है। इस हेतु मन को धार्मिक भाव से ओत–प्रोत होना चाहिए और प्रयोग शील मन/सच्ची धार्मिकता का भाव सभी रूढ़ियों को ध्वस्त करते हुए एक क्रान्ति का प्रतीक होता है जो हमेशा नवीन और स्वाभाविक होता है। ऐसा मन अदभुत रूप से नमनीय और सूक्ष्म होता है।ऐसा मन ही इस अपरिमेथ का अनुभव कर सकता है जिसे सत्य या ईश्वर माना जाता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति के मन को सत्य के प्रति और अन्वेषण के प्रति शिक्षा के द्वारा आश्वस्त बनाना चाहिए। शिक्षासंवाद, (पृष्ठ–10) में जे0कृष्णूर्ति जी ने लिखा है:–

" सच्चा ब्राह्मण वही है जो वैज्ञानिक तथा धार्मिक मन दोनो को निभाता है और अपने अन्दर किसी अंतविरोध के सामजस्य पूर्ण स्थिति में है। वही नया मानव है और मेरे विचार से शिक्षा का प्रयोजन इसी नवीन मन का सृजन करना है, जोकि विस्फोटक होता है और जो समाज द्वारा स्थापित प्रारूप के अनुरूप नहीं बनता।"

सृजनात्मकता का विकास

आज के संसार का जितना विकास है , वह अभावों का परिणाम मात्र है। जब व्यक्ति को किसी चीज़ की आवश्यकता होती है वह उसको प्राप्त करने के लिए खोज(प्रयास) करता है , साधन जुटाता है और स्वंय ही संतुष्ट नहीं होता है बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज को संतुष्ट या पूर्ति करता है। मनोवैज्ञानिको का मत है कि असंतोष से कार्यक्षमता तथा तत्परता में वृद्धि होती है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली संतोष का पाठ सिखाती है। जे0कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि सजहस्फूर्ति का व्यक्ति में आ जाना ही सृजनात्मकता का उदय होना होता है। अतः शिक्षा एवं शिक्षक जगत से सम्बन्धित व्यक्तियों को चाहिए कि वे कभी भी बच्चों को संतुष्ट न होने दें। वे उनको आगे बढ़ने, सोचने और अन्वेषण करने के लिए प्रेरित करते रहे ताकि वे अपने "स्व" का पूरा प्रयोग करके नये संसार का निर्माण करने में सहयोग प्रदान करें। वास्तविकता में व्यक्ति अपने असंतोष को छिपाये रखता है , लेकिन उसके व्यवहार से वह छिप नहीं पाता है। आपने संस्कृति का प्रश्न (पृष्ठ–33) में लिखा है–

" ज्यों ही कोई असंतुष्ट हो जाता है , खोज आरम्भ कर देता है, प्रश्न करने लगता है त्यों ही वह अनिवार्यतः दुःखी हो जाता है। लेकिन यह असंतोष ही एक मात्र ऐसी वस्तु है जिसके माध्यम से हममें सहज स्फूर्ति आती है। सृजनात्मकता की अपनी जड़े स्फूर्ति में रहती है और यह स्फूर्ति तभी प्रस्फुटित होती है, जहां गहरा असंतोष है।"

सचेतन उद्यमिता का विकास–

आज के मानव की सबसे बड़ी समस्या पुराने और नवीन विचारों के मध्य सेतु का बनाना है। यह सेतु सही निरीक्षण, विश्लेषण और सचेत उद्यम शीलता से बनता है , जिसका वर्तमान शिक्षा में अभाव है। मनो वैज्ञानिक ने सीखने के लिए प्रभाव तत्परता और अभ्यास को मुख्य माना है। हमें प्रत्येक क्षण का सद्पयोग करते हुए अपने निरीक्षण तथा विश्लेषण के द्वारा परिस्थिति का सामना करना चाहिए, न कि उससे पलायन। शिक्षा के द्वारा बच्चों में जागरूकता, तल्लीनता और उत्साह की प्रवृत्ति का विकास हो ताकि सामाजिक परिस्थिति का अवलोकन करके स्व प्रयास द्वारा ही सही हल प्राप्त कर सके। उद्यम और सचेतनता वह होश और ध्यान है जो सहज रूप से असीम सावधानी , सरोकार और स्नेह की ताज़गी को जन्म देता है। उद्यमी मन के बारे में आपने लिखा है कि "उद्यमी" मन समस्या के उत्पन्न होने पर उसका सामना करता है, उसकी तह में जाकर अवलोकन तथा विश्लेषण करता है और समस्या का समाधान तत्काल कर लेता है। इस प्रकार से समस्या का तुरन्त हल ही समस्या के अस्तित्व को नकारता है।

अधिगम् किया का विकास–

मानव का विकास और परिक्वता उसकी अधिगम प्रक्रिया पर निर्भर करती है। हम जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक कुछ न कुछ सीखते रहते है और अपने अनुभव में वृद्वि करते है जो हमें विभिन्न समस्याओं के समाधान में सहायता करता है। अधिगम का प्रयोग शुद्व "अवलोकन" है जो प्रत्येक क्षण घटित होता रहता है तथा व्यक्ति के ऑतरिक और बाह्य क्षेत्र से सम्बन्धित होता है और जिसमें अवलोकनकर्ता अनुपस्थित होता है। जे0कृष्णमूर्ति जी का मानना है विद्यालय ऐसे स्थान पर

होना चाहिए जहां पर विद्यार्थी मूल रूप से प्रसन्न और आनन्दित रह सके। जहां वे किसी भी प्रकार के भय से युक्त न हो, वे किसी कार्य के लिए बाध्य न हो और किसी विधि–विधान का पालन करना अनिवार्य न हो। यही वह स्थान है जहां सीखने की कला सिखायी जाती है। आपने सीखने की कला के बारे में लिखा है:–

"सीखने की कला का अर्थ है जानकारी को सही स्थान देगा तथा जो सीखा गया है उसका दक्षतापूर्वक उपयोग करना। लेकिन साथ साथ मनोवैज्ञानिक तल पर ज्ञान की सीमाओं में बंध नहीं जाना है और नहीं उन प्रतिभाओं और प्रतीकों से बंध जाना जिन्हें विचार निर्मित करता है। "कला का अर्थ है प्रत्येक वस्तु को अपने सही स्थान पर रखना।" (शिक्षा) केन्द्रो के नाम पत्र पृ0–31

<u>स्वतंत्रता भाव का विकास</u>– स्वतंत्रता भाव का तात्पर्य यह नहीं होता है कि आप अपनी प्रत्येक इच्छा–आकांक्षा की पूर्ति के लिए स्वतंत्र है। इससे अराजकता और अहंकार की वृद्वि होगी है, समाज में अत्याचार बढ जायेगों और कमजोर व्यक्ति का जीवन दूभर हो जायेगा। स्वतंत्रता मुक्ति का पर्याय है जो एक जटिल मामला है। इसलिए बड़े ही ध्यानपूर्वक हमें स्वतंत्रता के विचार को धारण करना चाहिए। मुक्ति संसार से पलायन या किसी बंधन से छुटकारा पाना नहीं है बल्कि प्राकृतिक विकास का वह भाव है जो प्रज्ञा का जागरण करता है। जैसा जे0कृष्णमूर्ति जी ने लिखा है :–

" जिस चीज़ की मुक्ति की हम बात करते है, वह किसी चीज़ से मुक्ति नहीं है या वह किसी बाध्यता और विवशता का निवारण नहीं है। मुक्ति का अर्थ विपरीत नहीं होता है यह स्वाभाविक है, इसका अस्तित्व स्वतः है। मुक्ति की प्रकृति की समझ ही बोध और प्रज्ञा का जागरण है। जो है, उसके साथ स्वंय का सामजस्य और तालमेल मुक्ति नहीं है, बल्कि जो है उसको समझना और उसके पार चले जाना ही मुक्ति है", (शिक्षा केन्द्रों के नामपत्र पृ0–31)।"

<u>भ्रांति विरोध</u>– आज का मनुष्य जीवन की विभिन्न भ्रान्तियों में फंसा रहता है। इनमें सुख्य है– परम्परा , आदते, रूढ़ियां, रीति–रिवाज और संस्कार/शिक्षा का कार्य इन भ्रान्तियों से छुटकारा

दिलवाना ही नहीं है बल्कि इनको समझकर इनको रोकना भी होता है। ये भ्रान्तियां हमारे जीवन को बंधनों में जकड़ देती है, जिससे वह सीमित हो जाता है। इनका जीवन में कोई मूल्य नहीं और न महत्व होता है बल्कि ये ऊर्जा की बबार्दी करती है और व्यक्ति को पतन की ओर ले जाती है। शिक्षा के द्वारा बच्चों को सजग बनाया जाये, ताकि उनके जीवन में कोई आदत निर्माण न हो सके और न वे किसी परम्परा के आदी बन सके। जे0कृष्णमूर्ति जी के विचार से शिक्षा ही वह साधन है जिससे व्यक्ति को संकीर्ण परम्पराओं और आदतों से मुक्ति दिलाई जा सकती है तथा विशाल जीवन सरिता से एकाकार होकर अनन्त जीवन का अनुभव करने में सहायता हो सकती है।

<u>नवीन संस्कृति का निर्माण</u> :– जे0कृष्णमूर्ति जी ने प्रथम और अंतिम मुक्ति(पृ0–267) में लिखा है:–

"मिथ्या को मिथ्या के रूप में सत्य को सत्य के रूप में देखना ही स्वाभाविक परिवर्तन है। इसके साथ ही यह भी ज्ञात करना कि झूठ में क्या सत्य है और जो सत्य प्रचलित या अपनाया जा रहा है उसमें कितना मिथ्या या झूठ है।"

इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा के द्वारा नवीन संस्कृति का निर्माण या विकास तभी हो सकता है जब हम बच्चों के अन्दर ऐसा विश्वास पैदा कर दें जो उनमें पुरानी और मौलिक विचारधारा में सामजस्य स्थापित करने की लगन तथा उत्साह जाग्रत कर दें। इसका परिणाम यह होगा कि उसकी दृष्टि स्पष्ट हो जायेगी और संस्कारों आदर्शो की मिली जुली संस्कृति से मुक्त होकर मौलिक परिवर्तन के द्वारा नूतन विश्व की रचना में सहयोग कर सकेगा।

यह नूतन विश्व तथा संस्कृति न भारत की होगी और न योरोपीय विचारों की। वह एक ऐसी संस्कृति होगी जो किसी परम्परा, दर्शन, विचार की देन नहीं होगी। ऐसी संस्कृति का विकास तभी हो सकता है जब हम सभी लोग अपने आदर्शो परम्पराओं , संसार युक्त जीवन से मुक्त होकर समिष्ट के प्रति प्रेम से भरजायें। ऐसी प्रेम पूर्ण दशा में ही वास्तविक अहिंसात्मक विद्रोह हो सकेगा, जिसका उद्‌देश्य न तो किसी आदर्श की स्थापना करना होगा, न ही किसी दार्शनिक पद्धति का

अनुगमन ही। उसका एक ही उद्देश्य होगा, सत्य को सत्य के रूप में जानना और झूठ को झूठ के रूप में पहचानना। इस प्रकारक जीवन विकास के लिए जे0कृष्णमेर्ति जी ने लिखा है :–

"वास्तविक शिक्षा आपको केवल संस्कारमुक्त होने में ही सहयोग नहीं देती, अपितु वह आपको आपके दैनन्दिन जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझने में भी मदद करती है ताकि आप स्वतंत्रता के साथ बढ़ सके और नूतन विश्व का निर्माण कर सकें– एक ऐसा विश्व जो वर्तमान विश्व से बिल्कुल ही भिन्न हो।(संस्कृति का प्रश्न, नृ0–21)।"

शिक्षा के उद्देश्य

संसार में जितनी भी क्रियायें होती है वे किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख होती है। प्रत्येक क्रिया का अंत होता है। जब हम इस अंत को जान लेते है तो यही क्रिया का लक्ष्य होता है। शिक्षा के उद्देश्य शैक्षिक मूल्यों से सम्बन्धित होते है। "ब्रूबेकर" के अनुसार शैक्षिक मूल्यों से ही शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण कर सकते है। शैक्षिक मूल्य, जीवन मूल्यों पर निर्भर होते है। अतः मूल्यों के विषय में आज का दृष्टिकोण न्यायक एवं यथार्थवादी है जो वस्तुनिष्ट सोच को अपनाता है। व्यक्ति अपनी इच्छाओं , कामनाओं , भावनाओं एवं विचारों को प्रगट करते है, इन्हीं का परिणाम शिक्षा के उद्देश्य बनते है।

"शिक्षा की विभिन्न अवधारणाओं तथ्य चिंतकों ने शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों को स्थापित किया है। ये उद्देश्य गतिशील तथा परिवर्तन शील होते है। इनका विकास देश,काल, और परिस्थिति के अनुसार रूप परिवर्तन के आधार पर होता है। इसीलिए भारतीयों के जीवन दर्शन, राजनैतिक आदर्श और सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियो ने भी समय समय पर शैक्षिक उद्देश्यों को प्रभावित किया है। जे0कृष्णमूर्ति जी के जीवन दर्शन का विकास भारतीय जीवन मूल्यों के आधार पर तथा परिश्चमी संस्कृति के प्रभाव के आधार पर हुआ है। आपका चिंतन देशकाल, परिस्थिति एवं सांस्कृतिक विषमताओं की सीमा से परे जाकर शास्वत जीवन को समझाने में मानवता की सहायता करता है। अतः शिक्षा उद्देश्यों का वर्णन प्रस्तुत है।

मानव जीवन जानने का उद्देश्य :—

मानव जीवन मात्र रोटी, कपड़ा और मकान जैसी आवश्यक आवश्यकताओं को किसी व्यवसाय प्रशिक्षण के द्वारा पूरा करना मात्र नहीं है। बल्कि उसको स्वंय को जानना होगा, मानव मूल्यों को समझना होगा और जीवन जीने की कला को जानकर शिक्षा के सकारात्मक पक्ष को व्यवहार में प्रस्फुटित करना होगा। यह कार्य माता—पिता, शिक्षक ,अभिभावक आदि सभी को जानना होगा ताकि बालक का विकास इसी आधार पर हो सके। जे0कृष्णमूर्ति के विचार से शिक्षा का कार्य बालक को जीवन जानने की प्रक्रिया को समझाना होगा ताकि वह किसी उद्यम को जीवन का आधार न मान लें। जीवन असीम तथा अद्भुत है जहां वह सिर्फ कर्म करता है।

जीवन को समझने के लिए उसके वास्तविक मूल्यों को समझना परआवश्यक है। यदि शिक्षा समाज के द्वारा प्रदत्त परम्परा और संस्कारों को जीवन में स्थापित कर लेता है तो वह अपने जीवन की मौलिकता को खो देता है अतः शिक्षा को पूर्वाग्रह विहीन होकर आत्म अवधान की क्षमता जागृत करने वाली होनी चाहिए। इसीलिए शिक्षा एवं जीवन का महत्व (पृ0—7) पर लिखा है :—

" शिक्षा का कार्य व्यक्ति को इसके लिए प्रोत्साहित करना नहीं है कि वह समाज के अनुसार बने/वास्तविक जीवन मूल्यों की खोज में व्यक्ति की सहायता करना ही शिक्षा का कार्य है और इन मूल्यों का प्रस्फुटन आत्म—अवधान द्वारा होता है। जब आत्मबोध नहीं होता तो अहंकार का विकास होता है और उसके साथ महत्वाकांक्षी द्वन्द पैदा हो जाता है।"

मानव जीवन को समझने के लिए उसमें सौन्दर्यानुभूति का विकास शिक्षा के द्वारा करना चाहिए ताकि वे किसी विशेष क्षेत्र में निपुणता हासिल कर सकें। जब व्यक्ति प्राकृतिक सौन्दर्य "स्व" में खो जाता है। यही "स्व" उसको जीवन जीने का संदेश देता है।"शिक्षा केन्द्रों के नामपत्र (पृ—76) पर जे0कृष्णमूर्ति जी ने लिखा है :—

"जीने की कला महानतम कला है, उन सभी चीजों से महान्तर जिसका सृजन मनुष्य के मन या हाथों से हुआ है। जीने की इस कला से एक नई संस्कृति का सूत्रपात हो सकता है। दर्शन शब्द का जो गहन अर्थ है, वही जीने की कला का भी जैसे सत्य के लिए प्रेम और जीवन के लिए

प्रेम। प्रेम ऐसी चीज या विचार नहीं है जिसे सीखने के लिए किसी को विश्वविद्यालय या शिक्षण संस्था में जाना पड़ें इस हेतु हम जीवन में इस कला का विकास स्वतः ही आसानी से कर सकते है।"

<u>स्वंय के अस्तित्व को समझना</u> :– फलैण्डर महोदय ने शिक्षा के गुणों का अध्ययन किया और स्वंय के अस्तित्व को समझना एक गुण माना है। आज शिक्षा के द्वारा सभी वाह्य वस्तुओं का ज्ञान एकत्रित किया जाता है जो हमारे विकास का अवरोधक है और "स्व" विकास में बाधक भी। अतः ऐसी शिक्षा पद्धति को शिक्षा मानना सही शिक्षा का घोतक नहीं माना जा सकता है। जे0कृष्णमूर्ति जी, शिक्षा एवं जीवन का महत्व (पृ09) ने लिखा है :–

" अज्ञानी वह व्यक्ति नहीं है जो विद्वान नहीं है ; अज्ञानी वह होता है जो स्वंय अपने को नहीं जानता है और इस अवबोध के लिए जब विद्वान व्यक्ति पोथियों पर ज्ञान पर सत्ता पर निर्भर करता है तो वह मूढ़ है। अवबोध केवल आतम्ज्ञान से आता है जो अपनी मनोविज्ञान प्रकिया का अवधान है। इस प्रकार से शिक्षा का वास्तविक अर्थ अपने को समझना है क्योंकि अस्तित्व अपनी सम्पूर्णता में हममें से प्रत्येक में संकलित है।"

<u>जिज्ञासा शक्ति का विकास</u> :–बाल मनोवैज्ञानिकों का मत है कि बच्चों में जिज्ञासा सदैव बनी रहती है। उनके शारीरिक और मानसिक विकास से परिपक्वता और अधिगम का विकास शनःशनः होता है परिणाम स्वरूप प्रत्येक वस्तु, प्राणी , विचार भाव आदि की जानकारी उनके जिज्ञासा का क्षेत्र बन जाता है। मैक्डुगल महोदय ने "जिज्ञासा " को मूल प्रवृत्ति माना है जो जन्मजात होती है और ज्ञान की पहली सीढ़ी होती है। शिक्षा का मूल उद्देश्य बालक की ऑतरिक शक्तियों का विकास करने में सहायता करना होता है। जे0कृष्णमूर्ति ने लिखा है :–

"सहज जिज्ञासा एवं सीखने की प्रवृत्ति बच्चों में प्रारम्भ से ही रहती है। व्यक्ति को समझकर उन्हें प्रोत्साहन देते रहना चाहिये ताकि वह सक्रिय बनी रहे, विकृत न हो।"

<u>सर्वांगीण विकास</u> :– शिक्षा का उद्देश्य बालक का सर्वांगीण विकास करना होता है। इसके द्वारा शारीरिक,मानसिक तथा नैतिक आदि क्षेत्रों में स्वाभाविक विकास होता है। इस प्रकार से मानव की गरिमा तथा मनुष्यता का प्रस्फुटन आसानी से हो सकता है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति के अन्तर में छिपी हुई भगवत्ता या दिव्यता का उद्घाटन उचित शिक्षा के माध्यम से ही हो सकता है। आपने ''परिसंवाद '' अंक–2 (पृ019) लिखा है :–

''प्रत्येक मनुष्य का समग्र विकास हमारा लक्ष्य है। उसको अपने सर्वोच्च और सम्पूर्ण क्षमता को समझने में सहायता करना, न कि, ऐसी कोई काल्पनिक क्षमता जो शिक्षक की दृष्टि में धारणा या ध्येय के रूप में हो। तुलना का भाव व्यक्ति के पूर्ण विकास में बाधा डालता है चाहे वह वैज्ञानिक बने या बागवान। जब तुलना न हो तो बागवान की पूर्ण क्षमता और वैज्ञानिक की पूर्ण क्षमता समान है। लेकिन जब तुलना की जाती है तो फिर उपेक्षा, ईर्ष्या पैदा होती है जो मानव–मानव में संघर्ष उत्पन्न करती है।''

<u>रचानात्मक विद्रोह की क्षमता का विकासः</u>–

मानव समाज ने अपने विकास के साथ–साथ विभिन्न प्रकार के नियम अनुशासन, रूढ़ियां और कुरीतियों का विकास किया है। ये सभी भ्रमात्मक जीवन शैली को प्रतिष्ठित करते है। शिक्षा उदृदेश्य इन सामाजिक दोषों को दूर करना और जीवन के सार्वभौमिक आधारों , मूल्यों का विकास करना आदि का विवेक जाग्रत करना है। इस प्रकार का विवेक तभी विकसित हो सकता है जब, शिक्षा के द्वारा हिंसात्मक विद्रोह के स्थान पर मनोवैज्ञानिक विद्रोह हो जिसे रचनात्मक–विवेकपूर्ण विद्रोह माना गया है , का विकास करना चाहिए । इस प्रकार से हम आदर्श स्थापना में सर्जक की भूमिका का निर्वहन करते है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने शिक्षा एवं जीवन का महत्व (पृष्ठ–2–3) लिखा है:–

'' व्यवहार के प्रति प्रतिक्रियात्मक व्यवहार न होकर आत्मबोधात्मक व्यवहार का विकास करना जो विचारों ओर भावनाओं के प्रति चेतनात्मक प्रतिक्रिया के विकास को महत्व देकर प्रज्ञाशक्ति का

विकास करते है। केवल हम तभी अपने विवेक सम्यक बुद्धि को, अत्यधिक जाग्रत अवस्था में रख सकते है , जब हम अपने अनुभव का जैसे–जैसे वह आता है, साक्षात करते है और विक्षोभ से बचने का प्रयत्न नहीं करते और सर्वाधिक जाग्रत सम्यक बुद्धि ही अन्तश्चेतना होती है जो जीवन में वास्तविक मार्ग निर्देशक होती है।''

निर्भीक मन का निर्माणः–

आज मनीषियों का मानना है कि हम संसार से भयभीत होते है, इसलिए ईश्वर का सहारा लेते है। मैक्डुगल महोदय ने भय को मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार माना है। शिक्षा का ऐसा उद्‌देश्य (वातावरण) बनाया जाय जिससे बच्चे निर्भीकता का पालन करें और कार्य का व्यवहारको भय रहित होकर करें। भय से जकड़ा हुआ मन द्वन्द एवं उलझन में जीता है, परिणाम स्वरूप वह हिंसक, विकृत और आक्रामक रूप धारण कर लेता है। आपने लिखा है :–

''शिक्षा का लक्ष्य केवल विद्वानों , तकनीशियनों तथा व्यवसाय की खोज करने वाले लोगों का ही विकास करना नहीं है , उसका लक्ष्य, ऐसे एकीकृत स्त्री एवं पुरूष का विकास करना है जो भय से मुक्त हो , क्योंकि केवल ऐसे ही व्यक्तियों के बीच स्थायी शांति संभव है'' (शिक्षा एवं जीवन का महत्व पृ0–7)।

सत्य की खोज करना :–

शिक्षा का उद्‌देश्य सत्य को जानना, पहचानना और उसका अनुगमन करना होना चाहिए, ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने बच्चों में सत्य के प्रति प्रेम और उसकी खोज करना, की ओर प्रेरित कर सके। जे0कृष्णमूर्ति का मानना है कि यदि थोड़े से शिक्षक भी इस बात को ठीक से समझ लें कि सत्य की खोज ही जीवन का मुख्य उद्‌देश्य है। अतः शिक्षा के द्वारा सत्य की खोज के द्वारा ही एक नये विश्व का निर्माण किया जा सकता हे। आपने अपने विचार प्रगट करते हुए बतलाया है कि ''मानव के अस्तित्व का केवल एक ही उद्‌देश्य है और वह है ''सत्य की खोज'' परमात्मा की खोज करना। यदि कुछ शिक्षक इस बात को समझ लें और अपना पूरा ध्यान इसी खोज में लगा दें तो वे एक नूतन शिक्षा का निर्माण करेंगे साथ ही एक दम भिन्न समाज की सृष्टि भी होगी।''

ध्यान की यथार्थता को समझना :–

ध्यान शब्द का प्रयोग भिन्न–भिन्न तरीकों से किया जाता है। ध्यान की प्रक्रिया में चेतना को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना, किसी शब्द का लगातार उच्चारण करना, केन्द्रित होकर किसी शब्द को सुनना, या किसी वस्तु का अवलोकन करना, आदि आता है। लेकिन वास्तविक ध्यान तो स्वंय के मन को समझने एवं जानने की प्रक्रिया से होता हे। आपने लिखा है :–

" यह जानना कि हमारा मन कैसे कार्य करता है, शिक्षा का अभीष्ट है। यदि आप अपने मन की प्रतिक्रिया, क्रियाकलापों की अज्ञानता नहीं जान पाते तो समाज क्या है? उसे कैसे समझ पायेंगे। व्यक्ति का मन समाज का एक अंश है अतः यही समाज है। इस प्रकार से आपका मन समाज से प्रथक नहीं है ओर न आपकी संस्कृति, धर्म, जातियां , महत्वाकांक्षायें , संघर्ष आदि ही आपसे प्रथक है। अतः समाज से प्रथक आपकी कोई सत्ता नहीं है।"

धार्मिकता का उद्‌देश्य :–

आज संसार में हिन्दु, इस्लाम, जैन ,बौद्ध, ईसाई, सिख, पारसी आदि सम्प्रदायों को धर्म की संज्ञा दी जाती है। कृष्णमूर्ति जी इनको धर्म नहीं मानते है। वे किसी भी पूजा या उपासना पद्धति को धर्म का नाम नहीं देते है। धर्म या धार्मिक जीवन सदैव पवित्र और पावन होता है। इसके द्वारा व्यक्तियों में करूणा की भावना, अच्छाई , पवित्र प्रेम आदि की स्व अनुभूति निरन्तर होती रहती है। इसीलिए आपने "संस्कुति के प्रश्न (पृ0 213) में लिखा है :–

" भले ही आप अत्यन्त चतुर हो और दुनिया भर की जानकारी एकत्रित कर लें, विभिन्न स्वाध्याय ग्रहण कर लें, फिर भी आपका मन खाली ही रहेगा। जीवन में सौन्दर्य और अर्थ तो तभी आ सकता है, जब हमारा हृदय मन की समस्त वस्तुओं से परे हो गया हो।"

मृत्यु का बोध करना :–

मानव मन हमेशा अजर और अमर रहना चाहता है,लेकिन मृत्यु का आभास उसके शरीर में भय को भर देता है। वह मृत्यु के बारे में विभिन्न कल्पनायें करता है, फिर भी वह मृत्यु को प्राप्त हो

ही जाता है। विभिन्न धर्मो ने अनेकों मान्यताये बना रखी है। वैज्ञानिक अपना मत प्रस्तुत करते है। शोक मनाया जाता है लेकिन मृत्यु का भय प्रत्येक को अपने आगोश में लिये रहता हे। शिक्षा के द्वारा मनुष्य अपने जीवन में ही मृत्यु का अनुभव कर सकता है। आपने ''संस्कृति के प्रश्न'' (पृष्ठ 72) में लिखा है, '' शिक्षित होने का केवल यही अर्थ नहीं है कि आप इतिहास , भूगोल या गणित में कुशलता प्राप्त कर लें, अपितु इसका यह भी अर्थ है कि आप इस अद्‌भुत वस्तु''मौत'' को भी समझने की योग्यता प्राप्त करें मौत अज्ञात है और जीते जी अज्ञात को जानना बहुत मानी रखता है।

जीवन की सार्थकता का उद्‌देश्यः–

मानव जीवन को सार्थक बनाना शिक्षा का उद्‌देश्य होना चाहिए। जब हम जीवन को अखण्ड मानते है, चारित्रिक गुणों का विकास करते है, स्वतंत्र जीवन यापन करते है और प्रकृति के सौन्दर्य का उपभोग करते है तो जीवन की सार्थकता स्वतः ही हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है। जब हम करने में और करना चाहिए में भेद नहीं करते, तो जीवन सृजनशील बन जाता है। यही अवस्था जीवन को अद्वैत या अखण्ड मानी जाती है। आपने लिखा है :–

'' सचमुच जीवन का अर्थ है किसी वस्तु को जिसे आप प्रेम करते है अपनी पूरी समग्रता के साथ करना ताकि आपमें ''आप जो कर रहे है और ''आपको जो करना चाहिए'' इनमें किसी प्रकार की विसंगति न हो, संघर्ष न हो। तब यह जीवन अखण्ड समग्रतामय प्रक्रिया हो जायेगी, जिसमें अनन्त आनन्द है।''

सभी शिक्षाशास्त्री, समाजिकता एवं वैज्ञानिक मानव चरित्र को अमूल्य निधि मानते है। आपने शिक्षा के द्वारा एक निश्चित प्रक्रिया के द्वारा बच्चों के चरित्र विकास की बात कही है; ''चरित्रवान बनने का निश्चित अर्थ है असत्य को त्यागना और सत्य की चाह रखना। अपने लिये स्वंय सोचना और सत्य का अन्वेषण करना और उस सत्य पर दृढ़ रहना, इसी का अर्थ है चरित्र निर्माण।''

जीवन की सार्थकता के लिए स्वतंत्रता भी अनिवार्य मानी गयी है। स्वतंत्रता का आभास पराधीन के भाव से होता है। अतः शिक्षा के द्वारा बच्चों को पराधीनता का आभास कराया जाये,

कारणों को जाना जाये, तभी हमारी स्वतंत्र प्रवृत्ति का विकास सही रूप से हो सकता है। आपने संस्कृति के प्रश्न (पृ017) पर लिखा है:–

"स्वतंत्र होने के लिए हमें अपनी इस सम्पूर्ण आन्तरिक पराधीनता के खिलाफ विद्रोह करना होगा और हम यह तब तक नहीं कर सकते जब तक कि हम यह नहीं समझ लेते कि हम पराधीन क्यों है? जब तक हम सचमुच इस आन्तरिक पराधीनता को नहीं समझ लेते और इसका अंत नहीं कर देते, तब तक स्वतंत्र होना असम्भव है।"

इस प्रकार से स्वतंत्रता और प्रेम एक सहगामी प्रक्रिया है। प्रेम में कोई प्रति क्रिया नहीं होती है और न ही भय प्रतीत होता है। यही प्रेम का भाव पूर्णमुक्ति का बोध भी कराने में समर्थ होता है। अतः प्रेम ही पूर्ण स्वतंत्रता का सर्जक भी होता है।

शिक्षा के द्वारा बच्चों में सौन्दर्य बोध का विकास होना चाहिए ताकि वे स्वंय, समाज को और राष्ट्र को सुन्दर बना सके। सामान्यतः हम अपने संस्कारों के वशीभूत होकर जीवन यापन करते चले जाते है जो अहंकार से ओतप्रोत होता है और हम संसार में फैले सौन्दर्य का अनुभव नहीं कर पाते है और न अपने अन्दर भी सौन्दर्य भूति की दृष्टि का विकास ही कर पाते है। इसलिए शिक्षा का यह भी उद्देश्य है कि यह समिष्ट में व्याप्त सौन्दर्य का अनुभव कराने में हमारा सहयोग करें। आपने लिखा है। "जब "स्व" नहीं होता तो सौन्दर्य होता है। जहां आप अपनी समस्यायों, जिम्मेदारियों , परम्पराओं और सब कूड़े कचरे के साथ नहीं होते तो वहां सौन्दर्य है।"

सौन्दर्य का उद्गम स्थान और आधार मानवीय करूणा, प्रेम है। जब बिना किसी बाधा के हमारा मन किसी सुन्दर वस्तु के साथ संवाद करने लगता है तो अखण्ड आनन्द प्राप्त होता है जो शास्वत है और अवर्णनीय है। आपके विचार से :–

" आन्तरिक सौन्दर्य के अन्वेषण में जिसकी अनुपस्थिति में हमारे बाहरी रूप और कार्यो का बहुत ही क्षुद्र अर्थ है। सहयोग देना सही शिक्षा का प्रमुख कार्य है और इस सौन्दर्य की गहरी अनुभूति आपके जीवन का एक विशेष अंग है।"

शरीर , मन और ह्दय में सामजस्य :–

शिक्षा के उद्देश्य स्वंय को प्रकाशित करने वाला भी हो, ताकि शरीर, मन और हृदय तीनों के बीच सामजस्य बिठाकर शिक्षार्थी अपना जीवनपथ आलोकित कर सकें। आज का प्रत्येक मानव भौतिकवाद की होड़ में लगा है। वह अधिक से अधिक धनोपार्जन करके सुख के भ्रमजाल में फस रहा है जिससे उसमें कठोरता और असंवेदनशीलता पैदा हो रही है। आपने "शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र (पृ0 2) पर लिखा है :–

" मानव का प्रस्फुटित होना क्या है? यह प्रस्फुटन हमारे मन, हमारे ह्दय, हमारे शारीरिक कल्याण का समग्र उद्धाटन और विकास है। इसका अर्थ है उनके बीच बिना किसी विरोध और विसंगति के पूर्ण संगति और सामजस्य में जीना है।"

पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम शब्द स्वंय में अत्यन्त व्यापक एवं सर्वागीण व्यक्तित्व का विकास करने का धोतक होता है। वर्तमान समय में शिक्षार्थी केन्द्रित शिक्षा में पाठ्यक्रम –अनुभवों, क्रियाओं या जीवन की वास्तविक परिस्थितियों का संचय है, जिनमें बालक भाग लेता है और जिनका वह सामना करता है। अतः पाठ्यक्रम –पाठ्य पुस्तकों, विषय वस्तु और अध्ययन के कोर्स से अधिक होता है। माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952–53) के अनुसार :–

पाठ्यक्रम का अर्थ केवल उन सैद्धान्तिक विषयों से नहीं है जो विद्यालय में परम्परागत रूप से पढ़ाये जाते है वरन, इसमें अनुभवों की वह सार्थकता भी सम्मिलित होती है, जिनको कि राष्ट्र, विद्यालय , कक्षा पुस्तकालय, प्रयोगशाला वर्कशाप और खेल के मैदान तथा शिक्षकों को और छात्रों के अगणित अनौपचारिक सम्यकों से प्राप्त करता है। इस प्रकार विद्यालय का सम्पूर्ण जीवन पाठ्यक्रम हो जाता है जो छात्रों के जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित कर सकता है और उनके संतुलित व्यक्तिव के विकास में सहायता देता है।"

उपर्युक्त सन्दर्भ के अन्तर्गत जे0कृष्णमूर्ति जी की शिक्षा एकांगी न होकर सार्वभौमिक है और शिक्षा का मूल उद्देश्य व्यक्ति को पूर्णता तक पहुँचाना है। पुस्तकों एवं अन्य माध्यमों से व्यक्ति के अंतहीन ज्ञान को बढ़ाते चला जाना पाठ्यक्रम का संकुचित स्वरूप है। व्यापक अर्थ में पाठ्यक्रम के द्वारा प्रज्ञा का जागरण होना चाहिए। प्रज्ञा का सम्बन्ध व्यक्ति के आत्मबोध से होता है और आत्मबोध के लिये संवेदनशीलता आवश्यक है। आपके अनुसार सृष्टि में सर्वत्र वस्तुओं, घटनाओं के प्रति संवेदना प्रगट करना तथा सजग रहकर देखना, प्रकृति के साथ अपने सम्बन्धों को जानना , सौन्दर्य की अनुभूति करना आदि सभी व्यक्ति में संवेदनशीलता को जगाते है। इतना ही नहीं आपके विचारानुसार व्यक्ति को सिद्वान्तों और आदर्शो की भाषा सोचना छोड़कर वस्तुओं की वास्तविकता के साथ सम्बन्ध होना चाहिए। यही वास्तविकता विचार करने से ही सम्यक बुद्वि जाग्रत होती है। आप जीवन के समग्र विकास के लिए भौतिक तथा आध्यात्मिक विषयों को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाते है। ये दोनो प्रकार के विषय सांसारिक सम्मान और आध्यात्मिक प्रेम, करूणा तथा "स्व" के विकास में सहायक होते है। व्यक्तित्व के विकास के लिए कला, विज्ञान वाणिज्य तथा तकनीकी विषयों का अध्ययन पर्याप्त नहीं होता हे। यह तो केवल ज्ञान (सांसारिक) में वृद्वि करते है। इसके अतिरिक्त सभी विषयों की शिक्षण प्रक्रिया में उनके मन के अनुसार परिवर्तन लाया जाय, ताकि वे समीक्षक बन सके और सम्यक रूप से सभी को देख सके। जिस ज्ञान का स्वअनुभव न हो वह स्वीकारना उपयुक्त नहीं बल्कि जो ज्ञान ऑतरिक रूप से जाना गया है, वही समग्रता स्थापित करने में सहायक होगा। समग्रता की स्थापना में ध्यान सहायता करता है। ध्यान से सजगता आती है जो बच्चों को उनके चारो ओर क्या हो रहा है? समग्र अवलोकन की क्षमता प्रदान करता है साथ ही साथ पाठ्य विषयों के ज्ञान के द्वारा छात्रों के चेतन मन के साथ साथ अचेतन मन का प्रशिक्षण सम्भव बनाया जाये, ताकि सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास हो सके। सोधकर्ता ने पाठ्यक्रम सम्बन्धी निम्नलिखित बातों को पाया है :-

1. पाठ्यक्रम का निर्धारण भौतिक तथा आध्यात्मिक विषयों के आधार पर किया जाये, ताकि

बच्चों का सही विकास हो ।

2. बच्चों के अन्दर स्वाभाविक शक्ति "संवेदनशीलता का विकास करने के लिए साधन सम्पन्न विद्यालय वातावरण हो।

3. ज्ञान की ग्राह्यता में तीव्रता तथा एकाग्रता लाने के लिए ध्यान को महत्व दिया जाये, जिससे संसार की सभी वस्तुयें ध्यान के केन्द्र में आ सके।

4. पाठ्य विषय ऐसे हो जो बच्चों के सर्वागीण विकास में सहायक हो जिससे उनमें स्वाभाविकता का विकास आसानी से हो सके।

5. छात्र पाठ्य विषयों के द्वारा सोचने और करने में क्या अन्तर होता है, समझ सके और स्वंय का एक समीक्षक के रूप में विकास कर सकें।

6. पाठ्यक्रम के द्वारा ऐसा ज्ञान तथा बच्चों में ऐसी दृष्टि का विकास हो जिससे वे समग्र का अवलोकन कर सके और स्वंय को खण्डित न मानकर समग्र का हिस्सा मानें।

7. ज्ञान के द्वारा चेतन का विकास तो किया ही जाय, साथ ही साथ अचेतन का विकास हो , जिससे अंतः शक्तियों और अतीन्द्रिय ज्ञान से लाभ उठाया जा सके।

8. पाठ्यक्रम के द्वारा और शिक्षकों की सहायता से छात्रों की प्रज्ञा शक्ति का विकास होना चाहिए जिससे वे अपने विवेक द्वारा सही और सकारात्मक निर्णय ले सके।

शिक्षण– विधियां

शिक्षण को अंतः क्रिया के आधार पर सम्पन्न किया जाता है । शिक्षण में बच्चों को केन्द्र मानकर मनोवैज्ञानिक तरीकों से ज्ञान दिया जाता है ताकि प्रत्येक छात्र ज्ञान को व्यवहारिक रूप से आत्मसात कर सके। महान शिक्षाशास्त्री "गार्लिक " ने शिक्षण के तरीकों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शिक्षक का निर्णय कि वह क्या पढ़ायेगा , विषय सामग्री को व्यवस्थित करना और बाद में वह सोचता है कि वह उनको किस प्रकार से व्यवस्थित करके प्रस्तुत करना है आदि कार्य शिक्षण विधियों में आते है।

जे0कृष्णमूर्ति जी ने प्राचीन तथा प्रचलित शिक्षण प्रविधियां , और शिक्षण सूत्रों को न मानकर नवीन शिक्षण विधियों को माना है, क्योंकि उनका शिक्षण करने का तरीका मनोवैज्ञानिक रहा है। वे शिक्षा को भयरहित, दवाब रहित तथा संस्कार रहित मानते है। इसीलिए उनकी शिक्षण विधियां भी भिन्नता रखती है।ऐसा प्रतीत होता है कि आप बाल–मनोवैज्ञानिक के ज्ञाता थे। आपने बच्चों में पायी जाने वाली स्वाभाविक प्रवृत्ति जिज्ञासा को पकड़ा और कहा कि सहज़ जिज्ञासा एवं सीखने की प्रवृत्ति बालक में प्रारम्भ से ही रहती है। अवश्य ही समझदारी के साथ प्रोत्साहन देते रहना चाहिए ताकि वह सक्रिय बनी रहे, विकृत न हो , (परिसंवाद पृ0 21)।

बच्चों में क्रिया करने की भावना होती है। इस भावना का विकास स्वक्रिया या हाथ से कार्य करना के द्वारा सीखने की ओर प्रेरित किया जाना चाहिए ताकि वह विभिन्न प्रकार के स्वनिर्मित अनुभवों(ज्ञान) को एकत्रित कर सकें। आज हम विभिन्न तकनीकों से शिक्षा देने का प्रयत्न करते है जो उनके स्वाभाविक विकास में बाधक होता हे। स्वक्रिया द्वारा सीखा गया ज्ञान रूचिमय, क्रियामय स्थायी और व्यवहारिक होता है जो बालक के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है।

बच्चों में खोज प्रवृत्ति जन्म से होती है। उनकी संवेदन शक्ति तथा प्रत्यक्षीकरण भाव बहुत ही तीव्र होता है। परिवार की वस्तुओं , व्यक्तियों, विचारों, इशारों को पहचान कर व्यवहार करना दिन प्रतिदिन सीखते है और नया करने की ओर ललक बनी रहती है। अतः वे अपनी समस्यायों, बाधाओं , रूकावटों, उलझनों को स्वंय दूर कर सकें ,ऐसा हल खोजने की प्रवृत्ति का विकास शिक्षक द्वारा होना चाहिए।

बच्चों में अवलोकन या निरीक्षण की प्रवृत्ति विशेष होती है। अतः वे सभी ज्ञानकारियों को छूकर देखकर, सूँघकर और समझकर प्राप्त करते है। अवलोकन से ज्ञान की प्रतिमा उनके मस्तिष्क में स्थापित हो जाती है और फिर भी वे उसका प्रयोग अपने व्यवहार में करने लगते है। अतः शिक्षण को निरीक्षण विधि के द्वारा दिया जाये तो वह सार्थक एवं स्थायी बन सकेगा। उनका मत है कि शिक्षक को स्वाभाविक तरीकों का प्रयोग करना चाहिए। मानव निर्मित बाध्यताओं से स्वाभाविक

16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एंव 17वीं शताब्दी के पूर्वान्ह में बेकन ने अपने विचारों से पश्चिम को अत्यधिक प्रभावित किया। उसने सत्यान्वेषण के लिए वैज्ञानिक निरीक्षण पर बल दिया और कहा कि यथार्थ का ज्ञान अन्तदर्शन से प्राप्त न होकर बाह्य निरीक्षण से प्राप्त होता है।

आधुनिक दर्शन का जन्मदाता "डेकार्ट" माना जाता है। डेकार्ट दार्शनिक, गणितज्ञ एवं वैज्ञानिक था। उसने दर्शन को गणित की भांति एक निश्चित विज्ञान बनाना चाहा और इसीलिए उसने बिना प्रमाण की प्रत्येक बात पर अविश्वास प्रकट किया। किन्तु अविश्वास करते करते वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अविश्वास करने वाले के अस्तित्व से तो इंकार किया ही नहीं जा सकता, और तब उसने घोषणा कि–मैं चिन्तन करता हूँ , अतः मेरा अस्तित्व है। यह सत्य इतना स्पष्ट एवं ठोस है कि कोई सन्देहवादी इस पर अविश्वास कर नहीं सकता। इससे वह यह निष्कर्ष भी निकालता है कि जिन वस्तुओं का विचार हमारे मन में स्पष्ट होता है वे सत्य होती है। डेकार्ट ने पुद्गल तथा मनस् दो भिन्न तत्वों को मानकर द्वैतवाद का समर्थन किया।

स्पिनोजा ने डेकार्ट के द्वैतवाद को असन्तोषजनक कहा और एकत्ववाद का समर्थन किया। उसने ईश्वर को असीम एवं निरपेक्ष कहा है और मनस् तथा पुद्गल को ईश्वर के विशेष गुणों के रूप में स्वीकार किया है। वह "संकल्प स्वातत्रंय" में तथा "संयोग" में विश्वास नहीं करता था। उसके अनुसार सभी कार्य ईश्वरेच्छा से होते है। स्पिनौजा ने अनुसार द्रव्य तो एक ही है किन्तु गुण अनेक है। ये गुण असंख्य आकृतियों में अभिव्यक्ति होते है।

लाइबनिज– प्राकृत पदाथ्रे का विश्लेषण करते हुए अन्त में उस स्थान पर पहुँचा जहां से आगे विश्लेषण की गुंजाइश नहीं थी। अन्तिम सीमा को उसने– "चित–बिन्दु" का नाम दिया क्योंकि उसके अनुसार समस्त सत्ता–चेतन है। प्रत्येक चित्–बिन्दु को उसने विश्व का प्रतिनिधि माना। केन्द्रीय चित्–बिन्दु को उसने "परमात्मा की संज्ञा दी। डेकार्ट द्वैतवादी था, स्पिनोजा अद्वैतवादी तथा लाइबनिज अनेकवादी था, किन्तु थे सब बुद्विवादी।

सामने भय की स्थिति न आने दें उनके मध्य सुरक्षा सम्मान एवं सहयोग की भावना होनी चाहिए, छात्र में प्रेम के गुण का पोषण और संवर्धन होना चाहिए इसलिए शिक्षक को बिल्कुल प्रारम्भ से ही प्रेम के गुण की ओर ध्यान देना चाहिए। प्रेम यानि विनम्रता ,मृदुता दूसरों का ख्याल रखना, धैर्य, शिष्टता एवं शालीनता है जो छात्र के व्यवहार तथा बातचीत के ढंग से प्रकट होता है। शिक्षक छात्र की इस प्रकार सहायता करें कि वे वर्तमान विश्व की समस्याओं का गहराई से अवलोकन करके उनसे उत्पन्न कठिनाइयों को यथा सम्भव समाधान कर सके।

कृष्णमूर्ति का मानना है कि कोई भी शिक्षक किसी भी प्रकार सत्ता का भय दिखाकर बालक में सदगुणों का विकास नहीं कर सकता इनके अनुसार सत्ता बड़ी भयानक , विनाशकारी एवं निरंकुश है अतः सत्ता का भय दिखाये बिना छात्र में अनुशासन ले आना कि वह समय पर भोजन करें, समय पर विद्यालय पहुँचे, अनावश्यक बातचीत न करें साथ ही उनमें आत्म सम्मान की भावना भी जागृत हो और छात्रों से सम्मान की मांग करता है तो स्वंय भी छात्रों का सम्मान करें जो शिक्षक स्वंय अपने को नहीं समझते यदि बालक के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं समझते, उनमें मात्र सूचनाएं ही भरते रहते है तथा परीक्षायें पास कराते रहते है वह नवीन शिक्षा का सृजन नहीं कर सकते। छात्र इसलिए होता है कि उसका मार्ग दर्शन किया जाये यदि मार्गदर्शक स्वयं ही भ्रान्त, संकीर्ण, राष्ट्रवादी एवं सिद्वान्तों से ग्रस्ति है तो स्वाभाविक ही उसका शिष्य भी वहीं होगा जो वह है , ऐसी अवस्था में शिक्षा और अधिक भ्रान्ति तथा कलह का कारण बनेगी। एक सच्चा अध्यापक वह नहीं जिसने एक प्रभावशाली शिक्षण संस्थान का निर्माण किया या जो राजनीतिज्ञों का एक उपकरण है और न तो वह एक आदर्श, एक विश्वास अथवा एक देश से बंधा है। सच्चा अध्यापक अभ्यतंर से समृद्व होता है। अतः अपने लिये कुछ नहीं चाहता, वह महत्वाकांक्षी नहीं होता इसलिए वह किसी भी रूप में सत्ता की चाह नहीं करता वह अपने अध्यापन को पद अथवा सत्ताधिकार प्राप्त करने का साधन नहीं बनाता और इसलिए समाज की बाद्वता से तथा संस्कारों के नियंत्रण से मुक्त होता है। एक प्रबुद्व सभ्यता में ऐसे अध्यापकों का आधारभूत स्थान होता है क्योंकि सच्ची संस्कृति इन्जीनियरों और टेकनीशियनों पर नहीं बल्कि शिक्षकों पर आधारित होती है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि जे0कृष्णमूर्ति जी एक सीमा तक ही गुरू की महिमा को मानते है। यदि गुरू उस सीमा से आगे बढ़ जाता है तो वही गुरू शिष्य के लिए बंधन निर्मित कर देता है। सम्पूर्ण मुक्ति के लिये गुरू का बंधन एक प्रकार की परतंत्रता है क्योंकि गुरूओं के बिना हम अपने को दिशाहीन पाते है और ऐसा मानते है कि गुरू ही हमारे पथ को आलोकित करता है। वास्तविक गुरू वह होता है जो अपने को आलोकित करता है और शनः शनः शिष्य से स्वंय को दूर करके उसे आलोकित होने की प्रेरणा देता रहता है।

शिक्षार्थी

शिक्षार्थी हमेशा ज्ञान का भूखा होता है। वह प्रत्येक क्षण कुछ न कुछ सीखता है और उसे अपने अनुभव का एक हिस्सा बना लेता है। सीखना तभी घटित होता है जब शिक्षक एवं शिक्षार्थी परस्पर संवाद की स्थिति में होते है। संवाद की अवस्था एक ऐसी प्रेम पूर्ण अवस्था होती है जिसमें चेहरे पर, मन पर तथा ह्दय पर किसी प्रकार का भारीपन नहीं होता है। अपितु शिक्षार्थी और शिक्षक दोनो विषय की गहराई में खो जाते है। आपने लिखा है :–

"मेरे विचार से सीखना तभी होता है, जब आपके और छात्र के बीच वही संवाद की अवस्था हो जो मेरे और आपके बीच है और संवाद का अर्थ सम्प्रेषण करना, सम्पर्क में आना, किसी अनुभूति को संचारित करना, सहभागी होना, न केवल शाब्दिक स्तर पर बल्कि बौद्दिक स्तर पर भी अनुभूति का और अधिक गहराई एवं और अधिक सूक्ष्मता से अनुभव करना। " (शिक्षा संवाद पृ0 90)।

नवीन मनुष्य तथा नूतन संस्कृति के निर्माण के लिए कृष्णमूर्ति जी भारत में स्थित कृष्णमूर्ति फाउन्डेशन" द्वारा संचालित विद्यालयों में छात्रों से समय समय पर वार्ताएं किया करते थे, शिक्षा का वास्तविक स्वरूप क्या है? बालक क्यों शिक्षित होना चाहते है? सत्य क्या है? स्वतंत्रता में बच्चों का प्रज्ञा प्रस्फुटन कैसे किया जा सकता है? इसके अतिरिक्त शिक्षा सम्बन्धी अन्य विषयों पर गम्भीर वार्तायें किया करते थे। कृष्णमूर्ति के अनुसार सम्यक शिक्षा बालक को समग्र अवलोकन के लिए प्रेरित करती है अर्थात उसके बाह्य एवं भीतर क्या घटित हो रहा है ? उसकी वास्तविकता से देखे

जब छात्र स्वंय अपने से सीखता है तो उसमें प्रज्ञा का प्रारम्भ होता है। कोई भी गुरू या पुस्तकें छात्रों को इतना नहीं सिखा कसती जितना कि वह स्वंय अपने आपसे सीखता है, यह एक अन्तहीन एवं मोहक वस्तु है और इससे वह सर्वाधिक अनुपम, सुखी, सुन्दर जीवन जी सकता है, कृष्णमूर्ति के अनुसार सच्चा मनुष्य धार्मिक एवं वैज्ञानिक दोनो ही मन को मिलाकर अपने अन्दर बिना किसी अर्न्तविरोध के सामजस्य स्थापित कर लेता है। बिना अपने को जाने अर्थात अपने शरीर, मन एवं संवेगों को जाने बिना और बिना यह जाने कि मन कैसे कार्य करता है? कैसे विचार करता है? हमारा मन धार्मिक नहीं हो सकता, इस सबसे परे जाने के लिए हमें एक ऐसे वैज्ञानिक मन की आवश्यकता होती है जो निश्चित, स्पष्ट एवं पूर्वागृहविहीन हो, ऐसे ही मनुष्य के ह्रदय में करूणा का निवास होता है, कृष्णमूर्ति छात्रों के लिये ध्यान को आवश्यक बताते है, ध्यान का अर्थ एकाग्र होना नहीं बस यह देखना है कि आपका मन, मस्तिष्क कैसे कार्य कर रहा है जो है उसे उसी रूप में देखने के प्रति सजगता हो, आपने समग्र अवलोकन की क्षमता हो कृष्णमूर्ति ज्ञान और बुद्धि में बड़ा अन्तर बताते है, ज्ञान मात्र जानकारियों का संग्रह है और बुद्धि प्रत्यक्ष अवबोध की क्षमता होती है यह ज्ञानका यंत्र की भांति उपयोग करती है बुद्धि बाह्य एवं आन्तरिक घटनाओं के प्रति सतर्क होती है। कृष्णमूर्ति छात्रों के विकास के लिए स्वतंत्रता एवं व्यवस्था दोनो को आवश्यक बताते है, स्वतंत्रता का अर्थ मनमानी करना नहीं है इससे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अव्यवस्था फैलती है स्वतंत्रता के लिए अत्यधिक बुद्धि की संवेदनशीलता एवं अवबोध की आवश्यकता होती है और व्यवस्था किसी पर जबरदस्ती नहीं थोपी जा सकती यह आन्तरिक गुण है छात्र दूसरों का ध्यान रखते हुए, अपने शिक्षक को ध्यान से सुने समय का पालन एवं कक्षा में अध्ययन करते हुए इतने सजग रहे कि प्रत्येक वस्तु या विचार की व्यवस्था का सम्पूर्ण ढंग समझ सके। कृष्णमूर्ति के अनुसार यदि बालक के ह्रदय में प्रेम, स्नेह, दयालुता, उदारता, करूणा आदि नहीं है तो इससे विनाशकारी विश्व की संरचना होती है जब व्यक्ति का मन एवं ह्रदय खुला एवं जागरूक होता है तो वह भयभीत नहीं होता वह आनन्द एवं उल्लास से भरा होता है यही जिज्ञासा उसे पूर्णता तक पहुँचाने में सहायक है

अतः छात्र को सन्देह प्रवृत्ति का होना चाहिए ताकि वह आंख बंद करके किसी का अनुसरण न करें उसमें सदैव खोजी प्रवृत्ति बनी रहे और जो अनुचित है उसका खुलकर विरोध करें एक ऐसा विद्रोह जो विवेकयुक्त ही जिसमें हिंसा का कहीं भी स्थान न हो हिंसा को न समझने का अर्थ है मूर्ख बने रहना, बुद्धि एवं संस्कृति से विहीन होना । जीवन बहुत विशाल है उसमें अपने लिये एक छोटासा घर बना लेना, एक–दूसरे से लड़ते रहना और जीवित रहना, इन सब पर विचार करना छात्रों का दायित्व है।

जे0कृष्णमूर्ति जी के शिक्षार्थी सम्बन्धी विचारों को संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया जाता है :–

1. शिक्षार्थी को स्वतंत्रता और अनुशासन मय जीवन का विकास करना चाहिए ताकि वह सम्यक बुद्वि, संवेदनशीलता तथा अवबोध का विकास करके निश्चित व्यवस्था का अनुगमन कर सके।

2. शिक्षार्थी को एकाग्रता का विकास करने के लिए ध्यान करने की आदत डालनी चाहिए ताकि वह सत्य की अनुभूति शांतपूर्ण तरीके से कर सके।

3. शिक्षार्थी को समग्र अवलोकन विधि का विकास करना चाहिए, जिससे उसमें समिष्ट के प्रति जागरूकता और समानता का भाव उत्पन्न हो सके।

4. शिक्षार्थी को लालची तथा स्वार्थी नहीं होना चाहिए ताकि वह पुरातन तन संस्कारों से रहित होकर स्वनिर्मित जीवन का विकास कर सके।

5. शिक्षार्थी की भावना धार्मिक हो और मन वैज्ञानिक। ताकि वह एक नूतन विश्व का निर्माण मानवीय प्रेम और सूक्ष्म तथा क्रमबद्व ज्ञान के द्वारा कर सके।

6. शिक्षार्थी को समग्र पर्यावरण के प्रति जागरूक होना चाहिए ताकि वह संसार में फैले सत्य, सौन्दर्य,करूणा ,कृपा के सही रूप से दर्शन कर सके।

7. स्वाभाविकता का विकास छात्र तभी कर सकता है जब किसी भी प्रकार की आज्ञाकारिता से स्वं को मुक्त करता है। तभी उसका सोच ताज़गी भरा एवं स्वाभाविक होता है जो स्व अनुभूति से विकसित होता है।

8. शिक्षार्थी को सदैव भय से मुक्त रहना चाहिए। भय का आविर्भाव मृत्यु (शारीरिक और विचारों की) से होता है। अतः जब हम मैं को समाप्त कर देते है तो मृत्यु का भय सदैव के लिए समाप्त हो जाता है।

9. शिक्षार्थी को अहिंसा का पालन सदैव करना चाहिए ताकि वह किसी को भी विचार भाव , किया आदि के द्वारा शोषण से बचा सके। इस प्रकार से मानवजगत में शांति स्थापित हो सकती है।

10. शिक्षार्थी को अपनी समस्याओं के प्रति जागरूक होना चाहिए ताकि वह उनका निदान अपने तरीके से कर सके।

11. शिक्षार्थी को अद्वैतवादी होना चाहिए जिससे उसमें संसार के प्रति आसक्त और अनासक्त विकसित हो सके। यही एक रास्ता परम् आनन्द का स्रोत है।

12. प्रत्येक शिक्षार्थी को मुक्ति का प्रयास करना चाहिए ताकि वह सांसारिक भाव से ऊपर उठकर समग्र चेतना की अनुभूति कर सके। इस अनुभूति में वह संसार का करूणा, दया, प्रेम, की वर्षा करता है और स्वंय में शांति, कोमलता, सौम्यता, उदारता, सहृदयता और सौन्दर्य का विकास करता है।

अनुशासन

अनुशासन प्रत्येक मानव, समाज और राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक होता हे। प्रश्न यह उठता है कि अनुशासन का स्वरूप दमनात्मक, प्रभावात्मक या मुक्तात्मक आदि में से कैसा हो? शिक्षार्थी के लिये अनुशासन परमावश्यक माना गया है। बच्चों का विकास विद्यालय के वातावरण में समाज के लिये तैयार किया जाता है। अतः विद्यालय की अपनी व्यवस्था , दिनचर्या, अध्ययन–अध्यापन शैली आदि ही अनुशासन का परिणाम होता है। इसीलिए बोर्ड आफ एजूकेशन ने अनुशासन को एक साधन माना है जिसके द्वारा बच्चों को व्यवस्था, उत्तम आचरण और उनमें निहित सर्वोत्तम गुणों की आदत को प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है।

चूंकि जे0कृष्णमूर्ति जी अनुशासन शब्द को उपयुक्त नहीं मानते है अतः आपने व्यवस्था को

ही अनुशासन माना है। आपने "शिक्षा संवाद (पृ022) में लिखा है :–

" अनुशासन का अर्थ अनुकूलन, अनुकृति , आज्ञा पालन है। इस का अर्थ यह भी है कि जो तुम्हें बताया जाता है वह करो। क्या ऐसा नहीं है। परन्तु यदि आप स्वतंत होना चाहते है और प्रत्येक मनुष्य को पूर्णतया स्वतंत्र होना ही चाहिए अन्यथा वे पुष्पित नहीं हो पायेगें, अन्यथा वे वास्तविक मनुष्य नहीं बन पायेगें तो आपको स्वंय अपने लिये वह पता लगाना होगा कि व्यवस्थित होने का क्या तात्पर्य है। इन सबकी खोज ही अनुशासन है।

श्री कृष्णमूर्ति छात्रों पर तथाकथित रूप से थोपे गये अनुशासन के अत्याधिक विरोधी है वे छात्र को पूर्ण स्वतंत्रता देने के पक्षधर है किन्तु स्वतंत्रता का अर्थ मनमानी करना नहीं होता ऐसी स्वतंत्रता तो सर्वत्र अवस्था ही फैलायेगी स्वतंत्रता का अर्थ छात्र को समग्र अवलोकन करने की स्वतंत्रता, जिज्ञासा व्यक्त करने की स्वतंत्रता ,शिक्षक से वार्तालाप एवं सन्देह प्रकट करने की , निरीक्षण करने की स्वतंत्रता आदि है कृष्णमूर्ति अनुशासन को व्यवस्था का नाम देते है और स्वतंत्रता एवं व्यवस्था का एक सिक्के के दो पहलू मानते है। व्यवस्था स्वाभाविक रूप से खिलने वाला फूल है जो कभी मुरझाता नहीं है क्योंकि यह अन्तरमन की उपज है। कृष्णमूर्ति के अनुसार एक अनुशासित मन कदापि स्वतंत्र नहीं होता और न वह मन स्वतंत्र है जिसने इच्छाओं को दबा दिया है केवल वहीं मन स्वतंत्र है जो इच्छाओं की समस्त गतिविधियों को भली प्रकार समझता है। उस गति को संचारित करता है जो विचार एवं विश्वासों के घेरे के भीतर होती है। ऐसे अनुशासन से ही व्यवस्था आती है व्यवस्था से स्वतंत्रता का जन्म होता है और स्वतंत्रता में ही अच्छाई प्रेम एवं प्रज्ञा का प्रस्फुटन होता है, स्वतंत्रता में ही पक्षी उड़ सकता है,बीज अंकुरित होता है, बालक विवेक जन्य आन्तरिक स्वतंत्रता में दूसरों का ध्यान रखकर वार्ता को ध्यान से सुनकर, समय पालन कर, स्वाध्याय कर आत्मानुशासन को प्राप्त होता है। यही उत्तम अनुशासन है।

यदि छात्र दूसरों का ध्यान रखते हुए, अपने शिक्षक आदि को ध्यान से सुनते है, समय का पालन करते है, नियमित कक्षा में जाते है, स्वाध्याय करते है और इतने सक्रिय हो कि प्रत्येक वस्तु

सही ढंग से व्यवस्थित हो तो यही अनुशासन होता है। इस प्रकार से हम देखते है कि अनुशासन एक प्रकार की व्यवस्था होती है तो वह समाज का ही अंग होता है क्योंकि समाज का प्रत्येक व्यक्ति पर तंत्र है। लेकिन जब कोई व्यक्ति स्तवंत्रता को ग्रहण करता है तो वह स्वंय को समाज से विलग कर लेता है। इसके साथ ही प्रारम्भ होता है, उसका अनुशासनमय जीवन जो अपनी व्यवस्था से चलता है। इसमें प्रेम होता है, द्वेष नहीं करूणा होती है, हिंसा नहीं, स्वतंत्रता होती है पराधीनता नहीं।

विद्यालय

आधुनिक युग में स्कूल(विद्यालय) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द स्कोला से मानी जाती है। इसका अर्थ होता है आराम या अवकाश। इस सन्दर्भ में ए0एफ0लीच ने लिखा है:-

"वाद-विवाद या वार्ता के स्थान जहां एथेन्स के युवक अपने अवकाश के समय को खेल-कूद, व्यायाम और युद्ध के प्रशिक्षण में बिताते थे, धीरे-धीरे दर्शन और उच्चकलाओं के स्कूलों में बदल गये। एकेडेमी के सुन्दर उद्यानों में व्यतीत किये जाने वाले अवकाश के माध्यम से विद्यालयों का विकास हुआ।"

आज के वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी युग में "जानडीवी" का विद्यालय के बारे में कथन स्पष्ट है " विद्यालय एक ऐसा विशिष्ट वातावरण है जहां जीवन के कुछ गुणों और कुछ विशेष प्रकार की क्रियाओं तथा व्यवसायों की शिक्षा इस उद्देश्य से दी जाती है कि बालक का विकास बांछित दिशा में हो। "

उपर्युक्त विचार से स्पष्ट हो जाता है कि विद्यालय एक वातावरण है, एक सुखी परिवार है, एक पवित्र मंदिर , एक सामाजिक केन्द्र, लघु रूप में एक राज्य और मनमोहक वृन्दावन है, जिसमें इन सब बातों का सुन्दर मिश्रण होता है। अतः विद्यालय अपने दिये गये ज्ञान तथा अनुभवों से बच्चों का शारीरिक ,मानसिक और आध्यात्मिक विकास करता है ताकि वह एक अच्छा नागरिक बनकर अपने पैरो पर खड़ा हो सके। इसके साथ ही विद्यालय विभिन्न परिवारों, धर्मो , जातियों,

सम्प्रदायों से आने वाले बच्चों में मानवीय गुणों का विकास करता है और उनके अन्दर की शक्तियों का समुचित विकास करके एक निश्चित अनौखा स्वरूप प्रदान करता है। इस कार्य हेतु विद्यालय के सभी सदस्यों का सहयोग उसको मिलता है। यही सहयोग उसमें दया, करूणा, सहृदयता, प्रेम सत्य, अंहिसा जैसे मानवीय गुणों का विकास करते है और एक नवीन समाज की रचना करते है ताकि समिष्ट को जानकर अपनी प्रज्ञा का विकास कर सकें।

विद्यालय एक प्रकार का वातावरण है जहां बालक के समग्र विकास के प्रयास किये जाते है। वातावरण निर्माण के लिए शिक्षक, छात्र, शिक्षणेत्तर कर्मचारी एवं अभिभावकों का सम्मिलित उत्तरदायित्व एवं सहभागिता आवश्यक है। शिक्षा केन्द्रों को चाहिए कि वे विद्यार्थी एवं शिक्षक दोनो को सहज रूप से प्रस्फुटित होने में मदद करें ताकि शिक्षा मात्र जीविकोन्मुखी यांत्रिक प्रक्रिया बनकर रह न जाये श्री कृष्णमूर्त्ति द्वारा दक्षिण में ऋषिबैली तथा उत्तर में राजघाट जैसे स्थानों पर संचालित विद्यालयों का प्रयोजनएक ऐसे परिवेश का निर्माण करना है जहां यथा सम्भव नये मानव को जन्म दिया जा सके। जहां बालकों को श्रेष्ठ तकनीकी शिक्षा से सम्पन्न करने के साथ स्वंय सहज प्रस्फुटन को महत्व देकर उन्हें पूर्ण मानव के रूप में तैयार होने का अवसर प्राप्त हो। वर्तमान शिक्षा में अजीविकों सर्वोपरि और अन्य प्रत्येक वस्तु गौण हो गयी है लेकिन सत्यता यह है कि मनुष्य मात्र पैसे से सुखी नहीं हो सकता, उसे चाहिए स्वतंत्रता जब तक शिक्षण संस्थाओं में अपनी संस्कृति अपने देश धर्म एवं अंध विश्वासों की महिमा का झूठा गुण गान होता रहेगा तब तक वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव नहीं है, विद्यालय परिसर में शिक्षक एवं छात्रों के मध्य उचित एवं सहयोगात्मक सम्बन्ध आवश्यक है इसी से प्रज्ञा का जागरण सम्भव है, इसी प्रकार विद्यालयों में कार्यरत सभी लोगों के चेतना स्तर से भयका समापन आवश्यक है, क्योंकि भय मन को पंगु बना देता है, विद्यालय में सभी लोग ईमानदारी से अपने उत्तरदायित्व का वहन करते है तो उनमें परस्पर अर्न्तविरोध की सम्भावना समाप्त हो जाती है, इसके साथ ही शिक्षण संस्थाओं का कार्य है कि वे छात्रों में सचेतना एवं उद्यमिता का विकास करने में सहायता करें। आदर्श सत्ता एवं तुलना के भावों को विद्यालयों से दूर ही रहना चाहिए। विद्यालयों का छात्रों को अनुकरण एवं आज्ञाकारी होने से बचाकर उनके सहज

विकास में कोई बाधा नहीं उत्पन्न करनी चाहिए, वर्तमान में हमारे विद्यालयों का वातावरण न्यूनाधिक मात्रा में इतना अव्यवस्थित , अप्रेमपूर्ण तथा भयावह हो गया है कि बच्चा वहां जाने से कतराता है अतः विद्यालयों में ऐसे वातावरण स्थापित किया जाये जहां बच्चा मूलरूप से प्रसन्न एवं आनन्दित हो उसे वहां डराया, धमकाया या परीक्षाओं के नाम से भयभीत नहीं कराया जाये। जहां वह जीवन के विभिन्न रहस्यों को एवं जीवन जीने की शैली को सीखता है वहां उसे अपनी जिज्ञासा, सन्देह एवं सभी प्रश्नों के समाधान करने का अवसर तथा समग्र अवलोकन एवं वस्तुनिष्ठ अवलोकन की ओर प्रेरित किया जाता है। विद्यालय में अध्यापक छात्रों को अपने मन एवं ह्दय के सहयोग से मित्रवत एवं स्नेहपूर्ण अवस्था में सीखना सिखाता है। कृष्णमूर्ति के अनुसार "यह स्थान रूमानी विचारों के लिए और भावुक विचारवालों के लिये नहीं है, इसके लिए एक अच्छे मस्तिष्क की आवश्यकता है जिसका अर्थ बौद्विक मस्तिष्क नहीं वरन ऐसा मस्तिष्क जो वस्तुनिष्ठ हो, स्वंय के प्रति ईमानदार एवं वचन और कर्म से एकात्म हो और हां व्यक्ति केवल शारीरिक रूप से ही सक्रिय ना हो अपितु उसमें सीखने की एक निरन्तरता हो इसलिए यहां पर प्रत्येक शिक्षक स्वंय शिक्षार्थी बन जाता है।"

उपर्युक्त विद्यालय के वर्णन से स्पष्ट होता है कि शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं उसकी मुक्ति से होता है जो समिष्ट के साथ उसके सहयोग को सम्भव बनाती हें यह सहयोग प्रत्येक को विद्यालय के द्वारा प्रदत्त शिक्षा से प्राप्त होता है। अतः निष्कर्षात्मक रूप से जे0कृष्णमूर्ति जी के विद्यालय सम्बन्धी विचार को निम्न विशेषताओं में प्रस्तुत किया जाता है :–

1. विद्यालय का वातावरण समन्वित व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है जो एक नवीन विश्व तथा संस्कृति के निर्माण में सहयोग देता है। आपने शिक्षा एवं जीवन का महत्व (पृ0 73) लिखा है–

" आशा केवल समन्वित व्यक्ति से ही की जा सकती है और उन्हें उत्पन्न करने में छोटे विद्यालय ही सहायक सिद्व हो सकते है। यही कारण है कि बड़ी शिक्षण संस्थाओं में आधुनिकतम एवं श्रेष्ठतम शिक्षा पद्धतियों का प्रयोग करने के स्थान पर सीमित संख्या में बालकों एवं बालिकाओं

वाले ऐसे विद्यालयों का होना अधिक महत्वपूर्ण है,जिनमें उचित प्रकार के शिक्षक अध्यापन कार्य करते हो।

2. विद्यालय के ऊपर अधिकार या नियंत्रण न सरकार का हो, और न समाज का बल्कि उस व्यक्ति का हो जो स्वंय के प्रति ईमानदार तथा जागरूक है। वह स्वंय को जानता है, बच्चों को समझता है और नवीन पर्यावरण के सृजन में रूचि रखता हैं जे0कृष्ण मूर्ति का मत है कि ऐसा व्यक्ति अपने घर पर ही छोटामोटा विद्यालय खोलकर उत्साह के साथ शिक्षण कर सकता है। यदि वह सही है तो उसे अवसरों की कमी नहीं रह सकती। अच्छे विद्यालय की स्थापना के लिए आत्म त्याग, प्रेम और अवबोध की आवश्यकता होती है। यदि बालक के प्रति प्रेम है तो सभी वस्तुए सम्भव है, अन्यथा धन अनिवार्यतः भ्रष्ट बना देता है।

3. विद्यालय एक नाव , परिवार की तरह से होता है जिसे चलाने वाला योग्य, अनुभवी, उत्साही, क्रियाशील तथा प्रज्ञायुक्त होना चाहिए, ताकि विद्यालय रूपी परिवार अपने अस्तित्व को नवीन कलेवर में विकसित कर सके। जे0कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि सही विद्यालय का निर्माण प्रधानाध्यापक तथा उसके सहयोगियों द्वारा ही होता है। एक दृढ़ चरित्र वाला व्यक्ति विद्यालय का निर्माण तो कर सकता है लेकिन साथियों का सहयोग नहीं ले सकता। अतः अध्यापक सम्पूर्ण के लिए स्वंय को उत्तरदायी समझे। यदि सभी विद्यालय के लोग मुक्त एवं विवेकशील होने के लिए प्रयत्नशील हो तो प्रत्येक स्तर पर एक दूसरे का साथ एवं सहयोग संभव हो जाता है।

4. विद्यालय को सामूहिक रूचि का केन्द्र होना चाहिए। जब आपस के विचार और कार्य टकराते है तो विरोध और भ्रान्ति पैदा होती है, जिसको प्रेम व उत्साह के द्वारा दूी करके सहयोग का सम्बर्द्धन दिया जाता है। आपने "शिक्षा एवं जीवन का महत्व" (पृ0 84–85) में लिखा है :–

" किसी भी अध्यापक को प्रधानाध्यापक से भयभीत नहीं होना चाहिए और न प्रधानाचार्य को ही अपने वरिष्ठ, अध्यापकों से। जब सभी व्यक्तियों के बीच समानता की भावना होती है तो सुखद सहमति संभव होती है यही सही प्रकार के विद्यालय का चरित्र होता है। वास्तविक सहयोग तभी प्राप्त होता है जब उच्च एवं निम्न भाव का अस्तित्व ही न रहे। यदि किसी प्रकार की कठिनाई या

भ्रान्ति होती है तो उसकी उपेक्षा न करके, उसे समझकर आपस में पुनः विश्वास प्राप्त किया जायेगा''

5. विद्यालय की कार्यप्रणाली की समरसता उसकी समान वितरण की भावना पर टिकी होती है। आज मनोवैज्ञानिक तथा शिक्षा–शास्त्री विद्यालय के कार्यो को बोझ न मानकर रचनात्मक कार्य मानते है। अतः प्रत्येक की क्षमता तथा योग्यता के आधार पर कार्य (भार) का समान वितरण विद्यालय में सुखद वातावरण तैयार करता है। आपने लिखा है :–

''सही शिक्षा एक बड़े समूह में नहीं दी जा सकती। प्रत्येक बालक का अध्ययन के लिए धैर्य, सावधानी सम्यक बुद्वि की आवश्यकता होती है। बालक की प्रवृत्तियों का उसकी समिवृत्तियों का एवं उसके स्वभाव का निरीक्षण उसकी कठिनाइयों को समझना, उसके वंशानुक्रम तथा पैत्रिक प्रभाव को ध्यान में रखना, न कि उसे किसी विशेष वर्ग कोटि के ही अन्दर रखना, इस सबके लिए स्फूर्ति से भरे एक ऐसे नमनीय मन की आवश्यकता होती है जो किसी विशेष प्रणाली अथवा पूर्वाग्रह से अनुशासित नहीं है। उसके लिए कुशलता की तीव्र अभिरूचि की और सबसे अधिक प्रेम भावना की आवश्यकता होती है और ऐसे शिक्षकों का विकास करना जिनमें ये गुण हो आज की प्रमुख समस्याओं में से एक है।''

6. विद्यालय के संचालन में प्रधानाचार्य, शिक्षकवर्ग, छात्रवर्ग तथा कर्मचारीवर्ग सभी का उचित प्रतिनिधित्व होना चाहिए ताकि जनतंत्रीय व्यवस्था का अनुपालन संभव हो सके। विभिन्न समितियों का गठन हो, कार्य वितरण हो, निर्देशन की व्यवस्था हो, उत्तरदायित्व का पालन किया जाये ताकि विद्यालय की सभी क्रियायों में समरसत्ता उत्पन्न हो सके। इस प्रकार से विद्यालय का प्रशासन ही जीवन में स्वशासन को स्थापित करने की पूर्व प्रस्तुति है।

7. विद्यालयों के द्वारा समग्र मानव जाति, समाज, राष्ट्र सम्प्रदाय धर्म, जाति, उच्च, निम्न आदि भेदभाव को मिटाकर सभी के कल्याण के भाव की स्थापना का विकास करना है। इसके लिए स्तवंत्रता ,समानता, भाईचारा आदि के भावों का विकास विद्यालयों के द्वारा होना चाहिए। हममें से प्रत्येक को सच्चा बनना होगा और हमें स्वंय को शिक्षित भी करना होगा। अतः सम्यक शिक्षा के लिए धैर्य, सहानुभूति, तथा प्रेम को चारो ओर फैलाना चाहिए, जिससे सभी प्रकाशित हो सकें।

अध्याय पंचम्

1. शारीरिक मूल्य
2. शैक्षिक मूल्य
3. सामाजिक मूल्य
4. धार्मिक मूल्य
5. राजनैतिक मूल्य
6. सौन्दर्यात्मक मूल
7. सॉस्कृतिक मूल्य

अध्याय – पंचम

जे0कृष्णमूर्ति और मानवीय मूल्य

महापुरूषों के व्यक्तित्व और चिन्तन का निर्माण उनके द्वारा विकसित किये गये जीवन तथा मानवीय मूल्यों से होता है। ये मूल्य ही उनके दर्शन, चिन्तन, सोच तथा ऑतरिक विकास के आधार होते है। जे0कृष्णमूर्ति जी एक शिक्षा शास्त्री और दर्शन शास्त्री दोनो ही थे और आपने संसार के विभिन्न क्षेत्रों में अपने दर्शन के व्यवहारिक पक्ष की पूर्ति के लिए शिक्षण/संस्थायें भी स्थापित की थी। उनमें मूल्य आधारित शिक्षा का विकास अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता था। अतः उनकी शैक्षिक महत्ता को स्पष्ट करने के लिए उनके द्वारा अपनाये गये मूल्यों पर प्रकाश डालना शोधकर्ती के लिये आवश्यक हो जाता है, ताकि उनकी विचारधारा की मौलिकता का पता चल सकें।

"मूल्य" शब्द की संकल्पना बहुत ही विस्तृत एवं बहु–आयामी रही है। समय–समय पर विभिन्न चिन्तकों ने सामाजिक रूप से इसकी व्याख्या की है। वेदों में यह स्पष्ट रूप से वर्णित है कि "स्मृतियों" के द्वारा प्राप्त ज्ञान से ही अंतिम सुख प्राप्त किया जा सकता है। अतः उच्च सुखानुभूति ही मूल्य कहलाता हे। वेदान्तों में आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ना और संसार बंधन से मुक्ति पाना आदि ज्ञान को मूल्य घोतक माना गया है। इस प्रकार से मूल्य का अर्थ आत्मानुशासन से लिया जाता है जिसमें आत्म सुख या आत्म तृप्ति होती है। अतः निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि मूल्य का उपयोग उच्चतम मुक्ति हेतु किया जाता है, जो मानव को मानसिक उन्नति की ओर अग्रसर करती है।

व्यवहारिक विज्ञान के अन्तर्गत मूल्यों के सम्पूर्ण पक्ष या विचार का विकास किया गया है। यह वास्तविक ज्ञान के विषयगत, और बाह्यगत आदर्श स्वरूप को स्पष्ट करते है। वास्तविक ज्ञान स्वंय में पूर्ण और संगठित होता है। इस प्रकार से व्यवहारिक विज्ञान ने मूल्य को मानव के विभिन्न पक्षों के रूप में जाना है, जैसे– शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि। लेकिन शिक्षा और मूल्य का

अपना अनौखा सम्बन्ध रहा है। शिक्षा एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया होती है जबकि मूल्य, मानव अस्तित्व के मनोवैज्ञानिक विकास और उन्नति का मानक माना जाता है। अतः शिक्षा का नवीनीकरण चिन्तक के द्वारा स्थापित सामयिक मूल्यों द्वारा होता है और चिन्तक के मूल्यों में परिवर्तन शिक्षा के द्वारा होता है। दोनो एक दूसरे पर निर्भर होते है।

कृष्णमूर्ति प्राचीन मान्यताओं, अवधारणाओं को नकराते हुए नवीन समाज और नवीन समाज के नवीन मूल्यों के सृजन पर बल देते है, शिक्षा नवीन जीवन मृल्यों के वृजन में सहायक होनी चाहिए बालक के मन में प्रचलित मूल्यों को आरोपित करना, उसे आदर्शो के अनुकूल बनाना तथा उसके मन को प्रतिबद्व करने से सम्यक बुद्धि जागृत नहीं होती, केवल नवीन ही हे जो मौलिक परिवर्तन कर सकता है यदि व्यक्ति प्राचीन के प्रारूप का अनुशीलन करता है तो कोई भी परिवर्तन प्राचीन का संशोधित सातत्य ही होगा, उसमें कुछ भी नवीन न होगा, मन केवल तभी नवीन हो सकता है जब वह अपनी समस्त क्रियाओं को केवल सही स्तर पर ही नहीं वरन गहराई से देखने में सक्षम हो। कृष्णमूर्ति के अनुसार ये मूल्य अर्थात धन, पद, सम्मान , शक्ति क्या है? यही सब है जो मनुष्य चाहता है और समाज चाहता है कि मूल्यों के इसी प्रारूप के अनुरूप बने परन्तु यदि विचार करें, निरीक्षण करें, सीखना आरम्भ करें, सीखना पुस्तकों से नहीं वरन स्वंय विश्व में जो चारो ओर ही रहा है उसे देखकर सुनकर तो मनुष्य एक ऐसे भिन्न प्रकार के मनुष्य के रूप में विकसित हो सकते है जो सर्तक है, जिसमें स्नेह है, जो लोगों से प्रेम करता है और नवीन मूल्यों के सृजन में सक्षम है, कृष्णमूर्ति विविध मूल्यों को स्वीकार करते है जो समाज, संस्कृति, शिक्षा , धर्म, राजनीति तथा आध्यात्म से सम्बद्व है, किन्तु वे इनके परम्परागत स्वरूप को स्वीकार नहीं करते है, बल्कि उनमें नवीनता की मान्यता देते है, जो मानव जाति के समग्र विकास में सहायक हो।

शारीरिक मूल्यः—

शारीरिक मूल्य से अभिप्राय मनुष्य द्वारा अपने शरीर को स्वस्थ बनाये ताकि वह निरोग रहकर स्वस्थ चिन्तन में सहायक बन सके। शारीरिक स्वास्थ्य व्यक्ति की मनोवृत्ति , भावनायें,

रूचियां , सोच और निर्णयों को प्रभावित करता है। यदि शरीर में कहीं भी असामान्यता होती है, हमारी एकाग्रता भंग हो जाती है, और कार्य के प्रति उत्साह तथा उद्यमिता निष्क्रिय होकर कुण्ठा में परिवर्तित हो जाती है। अतः शारीरिक मूल्य मानव मन को उद्यमी भी बनाता है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने "शिक्षा केन्द्रों" के नाम पत्र (पृष्ठ–29) में लिखा है :–

"उद्यमी होना मन का लक्षण है कि जैसे ही कोई समस्या उत्पन्न होती है, वह उसका सामना करता है, उसकी प्रकृति का अवलोकन करता है और तत्काल उसका समाधान करता है। जब आप किसी समस्या के उत्पन्न होते ही उसे हल कर लेगें तो आप पायेगें कि समस्यायों का अस्तित्व ही नहीं रह जाता है।"

इस प्रकार से कृष्णमूर्ति शारीरिक स्वास्थ्य पर अत्यधिक बल देते है क्योंकि स्वास्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क और भावनाएं रहती है। व्यक्ति को केवल अपने मन तथा भावात्मक संवेदनशीलता को ही महत्व नहीं देना बल्कि उत्तम शारीरिक स्वास्थ्य की ओर भी बहुत्त ध्यान देना है क्योंकि शरीर स्वस्थ एवं प्राणवान नहीं है तो स्पष्ट है कि विचार में भी विकृति लायेगा और असंवेदनशीलता को बढ़ायेगा, यह स्पष्ट तथ्य है कि सही भोजन किया जाये, पर्याप्त नींद ली जाये और शरीर का स्वास्थ्य उत्तम होने पर भी यदि इन्द्रियां एवं संवेदनशील नहीं है तो शरीर मानव के समग्र विकास में बाधक होगा, मांसपेशियों के सन्तुलित नियंत्रण एवं उनकी गतिविधि और क्रिया में सामन्जस्य बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार के मूल्यगत व्यवहार, व्यायाम, नृत्य, योगासन तथा खेल आवश्यक है। शरीर भावनाएं तथा मन के सामंजस्य से पूर्ण मानव बनता है यदि इनमें सामंजस्य न हो तो संघर्ष और द्वन्द अनिवार्य है, शरीर का बलपूर्वक किया हुआ दमन कभी भी चेतना के गहनतर स्तर के अन्वेषण में सहायक नहीं बन सकता है, कृष्णूर्ति के अनुसार व्यक्ति का साहसी होना आवश्यक है, वर्तमान मेंसर्वत्र भय विद्यमान है और भय की स्थिति में कभी भी अच्छाई का प्रस्फुटन नहीं हो सकता, अच्छाई के प्रस्फुटन के लिये आवश्यक है कि मानव शरीर स्वस्थ, शक्तियुक्त एवं स्फूर्तियुक्त हो जिससे उसमें साहस एवं निर्भयता को स्थायित्व प्राप्त हो सके और वह निर्भय होकर सत्य प्राप्ति

के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटा सके।

अतः स्पष्ट होता है कि शारीरिक मूल्य वाला व्यक्ति जीवन को सुन्दर, सुखद, नवीन तथा सत्य को स्थापित करने वाला होता है। वह अपने बौद्विक, आनुभविक, तथा विश्लेषण के द्वारा जीवन को सार्थक बनाता है और स्वंय भी सुख से रहता है और सभी को शांति से रहने देता है।

शैक्षिक मूल्य–

शैक्षिक मूल्य से अभिप्राय ज्ञान प्राप्त करना होता है। ज्ञान सीखने की कला पर निर्भर करता है। सीखना, शुद्व अवलोकन प्रकिया पर आधारित होता है। अतः शैक्षिक मूल्य का विकास विद्यालयी शिक्षा के द्वारा होता है। विद्यालय का वातावरण प्रसन्नता और आनन्द से ओत–प्रोत होना चाहिए, परीक्षा, नियम भंगिता, मूल्यांकन आदि का भय न हो। आपने शिक्षा केन्द्रो के नाम पत्र (पृ0 31) पर लिखा है, " सीखने की कला का अर्थ है जानकारी को सही स्थान देना तथा जो सीखा गया है उसका दक्षतापूर्वक उपभोग करना, लेकिन साथ–साथ मनोवैज्ञानिक तल पर ज्ञान की सीमाओं में बंध नहीं जाना और नहीं उन प्रतिमाओं और प्रतीकों से बंध जाना जिन्हें विचार निर्मित करता है।"

कृष्णमूर्ति के शिक्षा दर्शन की प्रमुख विशेषता आत्मज्ञान व आत्मबोध की प्राप्ति करना है। अतः शिक्षा का परम लक्ष्य व्यक्ति को स्वंय को जानना है और स्वंय को जानना सम्पूर्ण जीवन को समझना है यही शिक्षा का आदि और अन्त दोनो है, आत्मज्ञान ही समस्त समस्याओं के समाधान का मार्ग है। अतः शिक्षक, छात्र एवं सभी व्यक्तियों की सवाध्याय में निष्ठा का होना आवश्यक है क्योंकि आत्मज्ञान बाहर से दी जाने वाली शिक्षा द्वारा संभव नहीं है इसलिए आत्मज्ञान व्यक्ति को स्वाध्याय , आन्तरिक चेतना के विकास सजगता, ध्यान एवं पूर्णरूप से निर्भय होने पर ही सम्भव है आत्मज्ञान अर्थात आनन्द के लिए छात्रों में स्वज्ञान, विभिन्न जिज्ञासाओं का होना, खोजी प्रवृत्ति, विश्व की समस्त गतिविधियों पर ध्यान वास्तविक अवलोकन एवं समग्रता से देखने की प्रवृत्ति का होना आवश्यक है।

शिक्षा में कृष्णमूर्ति मूल्यांकन का निषेध करते है क्योंकि मूल्यांकन छात्रों में तुलना का भाव उत्पन्न करता है। सामान्य मान्यता है कि तुलना पद्वति से सीखने को प्रोत्साहन मिलता है किन्तु तथ्य इसके बिल्कुल विपरीत है, तुलना से निराशा और मात्र ईर्ष्या पैदा होती है और यही प्रतिस्पर्धा कहलाती है अनुनय और अभिप्रेरणा के अन्य रूपों की तरह तुलना भी सीखने की क्रिया में बाधक है, यह भय को जन्म देती है, महत्वाकांक्षा से भय पनपता है, महत्वाकांक्षा चाहे व्यक्तिगत हो या सामूहिक वह सदा समाजविरोधी ही होती है क्योंकि यह वैयक्तिकता की भावना को बल देती है जबकि वैयक्तिकता को समग्रता के सन्दर्भ में विकसित करने के लिय जिज्ञासा एवं खोजवृत्ति को महत्व देते है। छात्रों की मनोवृत्ति में कभी स्थायित्व नहीं आना चाहिए, अन्यथा वे सत्य को कभी नहीं जान सकेंगे, कृष्णूर्ति सत्य को सतत परिवर्तनशील मानते है और सत्य की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय, जिज्ञासा, सन्देह, खोज प्रवृत्ति एवं अनुशासन मूल्यों को स्वीकार करते है शैक्षिक मूल्यों से अनुशासन की संकल्पना में बाह्य या थोपी हुई व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते वरन पूर्ण स्वतंत्रता देने के पक्षधर है लेकिन स्वतंत्रता का अर्थ मनमानी करना नहीं है, स्वतंत्रता का अर्थ छात्र को अवलोकन करने की स्वतंत्रता , निरीक्षण एवं जिज्ञासा शान्ति के लिए विभिन्न प्रश्न करने की स्वतंत्रता आदि से है। स्वतंत्रता और व्यवस्था अनुशासन के अभिन्न अंग है जो परस्पर सम्बद्व है, कृष्णमूर्ति शाब्दिक और बौद्विक रूप से ही नहीं बल्कि हृदय से भी कतिपय अनुशासन को आवश्यक मानते है किन्तु उस अनुशासन को नहीं जिसे सत्ताधारियों ने विकृत कर दिया है प्रत्येक शिल्प और कारीगरी का उसका अपना अनुशासन होता है, अपना कौशल होता है। अनुशासन शिष्यतत्व से जुड़ा है क्योंकि अनुशासन का सम्बन्ध सीखने से है अतः अनुशासन का अर्थ किसी का अनुसरण या विद्रोह करना नहीं वरन अपनी प्रतिक्रियाओं, अपनी पृष्ठभूमि और इनकी सीमाओं के बारे में सीखना और इनके पार चले जाना है।

परिणाम स्वरूप शैक्षिक मूल्य के अन्तर्गत शुद्व अवलोकन के द्वारा समिष्ट का ज्ञान प्राप्त करना और सत्य को जानना ताकि मुक्ति का द्वार खुल सके।

सामाजिक मूल्य–

सामाजिक मूल्य का सीधा सम्बन्ध मानव मात्र को प्रेम करना, सेवा करना, और मानवीय गुणों को धारण करना आदि से होता है। वह समाज सेवा को अपना धर्म मानता है। उसका विकास अंतः पक्षीय न होकर बहुपक्षीय होता है। उसके अन्दर मानवीय गुण, दया, उपकार और भाई चारे के भाव आदि प्रमुख होते है। वह स्वंय के लाभ के स्थान पर अन्य की भलाई में विश्वास करता है।

समाज परस्पर सम्बन्धों का जाल है और हमारी अपनी आन्तरिक मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं का बाह्य प्रेक्षपण है जो सामाजिक मूल्यों पर निर्भर करता है।कृष्णमूर्ति जी आपसी सम्बन्धों के लिए सहयोग परस्पर उत्तरदायित्व, संवेदनशीलता एवं प्रेम मूल्यों को महत्व देता है वहीं स्वार्थ, समाजिक प्रतिष्ठा एवं स्व अस्तित्व के भाव को सामाजिकता के लिए घातक मानते है। मानवीय व्यवहार समाज के परिप्रेक्ष्य में सद्गुण युक्त हो जो सहजता लिये हो, सहजता मनोनिर्मित और स्वविक्षेपित वासना से निर्माण होने वाली नहीं हे जब तक कुछ विशेष होने के लिए मनुष्य दौड़ धूप करता रहता है तब तक वह सहज होना नहीं है। कुछ विशिष्ट होने के प्रयास में प्रतिकार, निषेध, आत्मक्लेश और त्याग का ही सिलसिला चलता रहता है, लेकिन इस सिलसिले पर विजय प्राप्त करना सद्गुण नहीं है कुछ विशिष्ट होने की इच्छा से मुक्तता और इससे निर्माण होने वाली सहज शान्ति ही सच्चा सद्गुण है, यह शान्ति हार्दिक होती है मानसिक नहीं। साधना, बृद्वि के परस्पर विरोध और प्रतिकार की सहायता से मन कृतिम शांति प्राप्त कर सकेगा लेकिन इस प्रकार की सहायता से मन कृत्रिम शांति प्राप्त कर सकेगा लेकिन इस प्रकार की अनुशासनबद्वता का ग्रास बनना ह्दय के सद्गुणों की हत्या करना ही है और ह्दय के सद्गुणों के बिना शान्ति और सत्यानुग्रह सम्भव ही नहीं क्योंकि ह्दय की सहज सद्गुणमयता ही सत्य दर्शन है जो सामाजिकता की अनिवार्यता है। सामाजिकता के सन्दर्भ में अहंपोषक स्वार्थ त्याग को येनकारते है और आत्म बलिदान को भ्रम बताते है क्योंकि ये दोनो ही किसी न किसी रूप में कुछ अधिक पाने की लालसा युक्त होते है।

उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में कृष्णमूर्ति का कहना है कि उत्तरदायित्व शब्द को हम कर्तव्य

शब्द के दुःखद भार से मुक्त रखे यदि उत्तरदायित्व शब्द का प्रयोग बिना किसी परम्परा के बोझ से करें और उत्तरदायित्व के साथ स्कूल में अध्ययन करें, सीखें और क्रियशील रहे, इसमें किसी अपराधभाव की अनुभूति नहीं करनी चाहिए ये सामाजिक मूल्यों में परस्पर सहयोग को बल देते है इसके बिना सामाजिक दायित्वों का निर्वाह सम्भव नहीं है, सामाजिक समस्याओं के समाधान एवं व्यक्ति के आमूल परिवर्तन के लिए अनुचित कार्यो के प्रति विवेकजन्य विद्रोह की आवश्यकता है जिसकी पूर्ति सामाजिक मूल्य का विकास समाज द्वारा विकसित शिक्षा प्रणाली से होता है, जो बच्चों में प्रज्ञा शक्ति का विकास करती है। सही रूप से शिक्षित बच्चे समाज से संस्कार जनित बुराईयों को दूर करके एक नवीन समाज की रचना करते है। इस समाज में प्रत्येक सदस्य एक दूसरे से वास्तविक अर्थो में प्रेम करें तथा सुख–शांति का जीवन व्यतीत करने में सहयोग करें, जिससे सामाजिक मूल्य की उपादेयता सिद्व होती है।

धार्मिक मूल्य

भारतीय समाज को धार्मिक मूल्यों से ओत–प्रोत माना जाता है। इसीलिए आज अनेकता में एकता और एकता में ही शक्ति का विकास मानते है। परिणाम स्वरूप ''वसुधैव कुटुम्बकम'' की भावना का विकास भारत की संस्कृति में निहित ''सत्य, शिव तथा सुन्दरम् जैसे शास्वत मूल्यों के द्वारा हुआ है। अंत में व्यक्ति धर्म भाव से, मानव भाव में उतर कर आत्म भाव में प्रवेश करता है। यही आत्मभाव मानव को प्राणी मात्र से प्रेम करना, दया करना, तथा सेवा करना सिखाता है।

संसार के सभी दर्शन किसी न किसी रूप में ईश्वरीय सत्ता में विश्वास करते है कृष्णमूर्ति ईश्वर शब्द पर विश्वास नहीं करते। मानव ने ईश्वर को प्रतीकों , मंदिर , मस्जिद, गिर्जा आदि के रूप में महिमा मण्डित किया है। सत्य ही ईश्वर है, और सत्य तो सर्वत्र विद्यमान है कृष्णमूर्ति बाहरी क्रिया काण्ड को धर्म नहीं मानते, मंदिर में जाने और विश्वास रखने में भी धर्म नहीं है। इनके अनुसार श्रद्वा मनुष्य को बांटती है अतः श्रद्वा विनाश, दुश्मनी और विभाजन को जन्म देती है यह निश्चित ही धम्र नहीं है। वास्तविक धर्म जिस प्रकार स्वच्छ एवं अविकृत खिड़की के शीशे से देखने पर वस्तुएं अपने वास्तविक स्वरूप में दिखाइ देती है, उसी प्रकार जब आप अपने मन की खिड़की

को पूरी तरह स्वच्छ अर्थात विचारों, विश्वासों, परम्पराओं तथा प्रतिबद्धताओं की विस्कृतियों से मुक्त कर लेते है तब ही वास्तविक धर्म को समझ सकते है।

धर्म के बृहत अर्थ में विश्वास, धैर्य, क्षमा ,विद्या ,ज्ञान , पवित्रता एवं सत्य जैसे मानवीय मूल्य समाहित रहते हे जो किसी समुदाय विशेष के संस्कारों से बंधे नहीं होते। इनका मानना है कि धार्मिक मन में भय लेशमात्र भी नहीं होता है और कोई न कोई धार्मिक आस्था या विश्वास ही। मन इस अवस्था में तो केवल वही शेष रह जाता है जो वस्तुतः है धार्मिक मन में एक अजस्त्र और अविच्छिन्न मौन शेष रह जाता है यह मौन विचार का परिणाम नहीं बल्कि सजगता का सहज प्रतिफल है अर्थात यह मौन वह ध्यान हे जो संघर्ष से पूर्णतः मुक्त है। मन की इसी अवस्था में उससे साक्षात्कार हो जाता है जिसे सत्य, वास्तविकता , परमानन्द, परमात्मा, सौन्दर्य, प्रेम इत्यादि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।

धार्मिक जीवन का प्रारम्भ तब होता है जब मानव मन बहुत ही गहराई में छिपे मन की द्वन्दात्मक स्थिति को समझकर उसके पार चला जाता है। आपका मत है कि कोई भी धर्म सत्य की ओर नहीं ले जा सकता है। सत्यता एक पथहीन भूमि के समान है। उससे सम्बन्धों के दप्रण द्वारा मानस की विषयवस्तुओं की गहरी समझ तथा निरीक्षण के अतिरिक्त अन्य किसी विधि ,ारा नहीं जाना जा सकता।

राजनैतिक मूल्य

सामान्य रूप से राजनैतिक मूल्य का अभिप्राय ''शक्ति संचय '' से होता है। इस प्रकार से ओत प्रोत व्यक्ति 'येन–केन प्रकारेण'' स्वंय को शक्तिशाली बनाते है। इस तरह से वे मानव समाज को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते है। इनके स्वाभाविक गुणों में संघर्षशीलता, प्रतिस्पर्धा और नेताशाही गुण आदि प्रधानता रखते है। इनका मनोवल जीत या हार में समान रहता है और प्रत्येक प्रकार से शक्ति का प्रचार करने से चूकते नहीं है। वे जनता तथा समाज को विभिनन प्रकार से लुभाते है ताकि उनकी शक्ति का प्रचार और प्रसार होता रहे।

किसी राष्ट्र को एक जुट होकर प्रशासनिक व्यवस्था ही राजनीति होती है जिससे सम्पूर्ण मानव समाज संचालित होता है। जे0कृष्णमूर्ति जी किसी मानवीय व्यवस्था का अनुगमन करना और सुखानुभूति करना ही राजनीति नहीं मानते है। इस प्रकार की व्यवस्था में परम्परायें, बाधायें , नियम तथा निश्चित स्वरूप की व्यवस्था होती हे जो प्रत्येक मनुष्य को परतंत्रता का बोध कराती है। आज का राजनेता हिंसा, स्वार्थ, दिखावा ,प्रतिष्ठा, आदि में विश्वास करके स्वंय को शासक मानता है। इससे एक प्रशासनिक व्यवस्था का बोध होता है जिसे सरकार माना जाता है। आज की जनतंत्रीय सरकारों के मूल्य स्वतंत्रता, समानता तथा भाई चारे की भावना को जे0कृष्णमूर्ति जी राजनैतिक मूल्य नहीं मानते है बल्कि विश्वशांति के लिए, प्रत्येक मानवके लिए संवेदना का प्रस्फुटन स्वतंत्रता, समानता और न्याय को सार्वभौमिक रूप से स्वीकारते है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक दूसरे पर आश्रित रहता है। फिर भी हम मनोवैज्ञानिक रूप से सर्वसत्ता से मुक्त रहकर जीवन यापन करें तो यही राजनैतिक मूल्य होता है। जिस प्रकार से एक स्वर्ण के परमाणु में सोने के सभी गुण विद्यमान होते है, वैसे ही प्रत्येक मानव के आत्मज्ञान में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाया होता है। जब मनुष्य को आत्मज्ञान हो जाता है तो वह अपनी सभी समस्याओं का हल खोज लेता है। अतः मानव मात्र में समानता, स्वतंत्रता , न्याय देखना ही राजनैतिक मूल्य है।

सौन्दर्यात्मक मूल्य

सौन्दयत्मिक मूल्य से प्रभावित व्यक्ति सौन्दर्यबोध में लिप्त रहता है। वह प्रत्येक वस्तु, स्थान जीव एवं प्राणी मात्र में अच्छाई के ही दर्शन करता है। इसका प्रगटीकरण प्रकार और समरूप में होता है। वह रचनात्मक कलाकार हो भी सकता है और नहीं भी लेकिन उसकी मुख्य रूचि कलात्मक या सौन्दर्यपरक होती है। वह प्रत्येक कार्य को इसी के आधार पर सम्पन्न करता है । उसका सोच किया, प्रत्यक्षीकरण आदि सभी पर सौन्दर्यात्मक मूल्यों का गहरा प्रभाव रहता है।

सौन्दर्यबोध मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है कृष्णमूर्ति के अनुसार मात्र समानुपात आकार रूचि तथा व्यवहार ही सौन्दर्य नहीं है, सौन्दर्य व्यक्ति के मन की वह स्थिति है जिसके सरलता के आवेग के कारण सबका केनद्र विसर्जित हो जाता है अहंकार अथवा स्व एवं तुलना सौन्दर्य को नष्ट कर देते है जबकि विश्व में सर्वत्र ही सौन्दर्य विद्यमान है सुन्दरता को समझने एवं अनुभव करने के लिए तथाकथित सुन्दरता एवं तथाकथित कुरूपता दोनो के प्रति संवेदनशीलता आवश्यक है वह भावना जिस पर अच्छे–बुरे का लेबिल नहीं लगा होता वह अत्यन्त गहन और उत्कृष्ट होती है। जब स्व नहीं होता तो सौन्दर्य होता है जहां व्यक्ति अपनी समस्याओं, जिम्मेदारियों, अपनी परम्पराओं और सब कूड़े–कचरे के साथ नहीं होता तथा जिसके हृदय में करूणा, प्रेम, संवेदनशील, सहजता, सरलता सार्वभौमिकता एवं उत्कृष्ट भावनायें हो तथा बिना किसी बाधा के जब व्यक्ति का हृदय संवादित होता है तब ही व्यक्ति परम सौन्दर्य एवं अखण्ड आनन्द की अनुभूति कर पाता है जीवन में ऐसे आनन्द का बड़ा महत्व है, जब तक व्यक्ति का जीवन अत्यन्त पिछला एवं सतही बना रहेगा तब तक वह सौन्दर्यबोध का अनुभव नहीं कर सकता भले ही वह महान सौन्दर्य से सर्वदा घिरा ही क्यों न हो।

प्रत्येक व्यक्ति सौन्दर्यात्मक मूल्य का प्रगटीकरण गायन, चित्र, मुस्कान, शांति या मौन में कर सकता है। पक्षियों के कलख, बादलों की दौड़–भाग, नदी–नालों–झरनों की ध्वनि सुनने का हमारे पास समय नहीं है। हम तो अपने जीवन के भोग विलास और कार्यो में इतने उलझे रहते है कि सौन्दर्य अवलोकन का हमें समय ही नहीं मिल पाता है। यदि हमारे हृदय में सौन्दर्य नहीं है तो हम कैसे बालकों को सचेत तथा संवेदनेशील बनने में उनकी मदद कर सकते है? यदि हम बच्चों को संवदेनशील बनाना चाहते है या संवेदनशीलता का विकास करना चाहते है तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम स्वंय सौन्दर्य के प्रति सचेत हो, वह चाहे मानव द्वारा निर्मित हो या प्रकृति द्वारा प्रस्फुटित।

सांस्कृतिक मूल्य बच्चों की सभ्यता और संस्कृति का द्योतक है। जब हम अपने बच्चों को सुसंस्कृत मूल्य का उनमें प्रसार करते है। इस मूल्य से ओत–प्रोत व्यक्ति सभ्य और आचरणयुक्त होता है। वह सभी प्रकार की कलाओं , रूचियों, विचारों और वस्तुओं का सही अवलोकन करने में समर्थ हो जाता है। वह साधारण मनुष्य न रहकर एक महत्वपूर्ण व्यक्ति बन जाता है। शिक्षा के द्वारा ही सांस्कृतिक मूल्यों का विकास एवं प्रसार बच्चों में आसानी से किया जाता है ताकि वे सभ्य तथा शिष्ट बन सके। शिक्षाशास्त्री "औटावे", ने लिखा है :–

"शिक्षा का एक कार्य–समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और व्यवहार के प्रतिमानों को अपने तरूण और शक्तिशाली सदस्यों को प्रदान करना है।"

संस्कृति मानव के मूल्यों आचार, विचार एवं व्यवहार का ढंग होता है जो उसे परम्परागत एवं वंशानुक्रम के रूप में प्राप्त होता है। कृष्णमूर्ति के अनुसार सदियों से चली आ रही संस्कृति जो विश्व में अलगाववाद लिये हुए है इसके लिए पूर्णतः नवीन एवं एक संस्कृति की आवश्यकता है जो न पूर्व की हो ना पश्चिम की, वह मानव संस्कृति हो और इसके लिए आवश्यक है कि मानव अपने विभिन्न आदर्शो परम्पराओं एवं संस्कारयुक्त जीवन से मुक्त होकर समष्टि के प्रेम से भरे जाये, कृष्णमूर्ति समस्त विश्व के लिए एक संस्कृति और समान मूल्यों को महत्व देते है और इसके लिये पूर्णतः नवीनता जिसमें व्यक्ति को अपने प्रति सृजनशील एवं संवेदनशीलता के अवबोध को महत्व देते है जहां विभिन्न विचार प्रणालियां, व्यक्ति को प्रतिबद्व करने वाली शक्तिशाली शक्तियां नहीं होगी वरन नवीन संस्कृति में एकता, सार्वभौमिकता, सहयोग , समानता, स्वतंत्रता , प्रेम, अंहिसा एवं स्वयं के प्रति गहरा संवेदनशील, सृजनशील अवबोध होगा जिसमें सत्य को सत्य के रूप में मिथ्या को मिथ्या के रूप में स्वीकार किया जाये एवं जो वास्तविकता है उसके अनुरूप ही मानव की जीवन शैली हो सके।

सांस्कृतिक मूल्य व्यक्ति के संस्कार और अनुभव से सम्बन्ध रखता है। जब व्यक्ति यथार्थ को जान लेता है तो उसमें सत्य का प्रवेश हो जाता है ओर स्वाभाविक रूप से अपनी सभी क्रियायों करता है ताकि वे स्वयं से प्रगट न होकर समिष्ट का एक हिस्सा हो, यही वास्तव में सांस्कृतिक मूल्य का प्रस्फुटन होता है जो हमें सृजनशील और संवेदनशील बनाते है।

अध्याय – षष्टम

उपादेयता, निष्कर्ष एवं सुझाव

1. निष्कर्ष एवं उपादेयता
2. सामान्य निष्कर्ष
3. वर्तमान शिक्षा विभाग हेतु सुझाव
4. शोधकर्ताओं हेतु सुझाव

अध्ययन के निष्कर्ष

शोधकर्ता ने अपने अध्ययन के लिये महान दर्शनशास्त्री,क्रान्तिकारी शिक्षा अन्वेषक और प्रवुद्ध विचारक जे0कृष्णमूर्ति जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को चुना है। आपने भारतीय शिक्षादर्शन का विचार एक अनौखी क्रान्ति ऐसे समय में संसार को दी , जब सभी राष्ट्र और मानव समुदाय भौतिकवादी तथा वैज्ञानिक शिक्षा के मुरीद थे। प्रस्तुत शोध कार्य की पूर्ति तभी उपयुक्त हो सकती है जब इसके निष्कर्ष भारतीय मनीषियों के अनुसार वर्तमान के लिए लाभान्वित हो। जे0कृष्णमूर्ति जी से पहले विवेकानन्द, महात्मागांधी, रवीन्द्र नाथ टैगोर तथा महर्षि अरविन्द आदि शिक्षा मनीषियों ने अपने अपने विचार प्रस्तुत किये थे, जिनका प्रभाव आपकी विचार धारा में कहीं न कही परिलक्षित होता है। फिर भी आपने नवीन क्रान्तिकारी तथा सभी मानवों के हित के लिए जिस शिक्षा की रूपरेखा को प्रचलित किया, उसके तथ्यात्मक तथा रचनात्मक निष्कर्षों को प्रस्तुत किया जा रहा है :—

शिक्षा— शिक्षण सम्बन्धी

शिक्षा प्रणाली का आधार उससे अभिप्राय, उद्देश्य, शिक्षक , शिक्षण प्रणाली छात्र/छात्रा आचरण, अनुशासन और शिक्षक अभिभावक सम्बन्ध आदि होते है। इस सन्दर्भ में आपने शिक्षा का मूल अर्थ शक्तियों को भीतर से बाहर लाना यानि बच्चे अपने वंशक्रम से जो लेकर आये है और वह बीज रूप में उनके अन्दर अविकिसित अवस्था में है, उसका विकास करना है। वर्तमान में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्व कर दिया है कि प्रत्येक बालक अपने माता—पिता की चार पीढ़ियों से अपने को लाभान्वित पाता हैं। इन पीढ़ियों के किसी भी सदस्य की कोई भी विशेषता उसमें आ सकती हैं। ये विशेषतायें शारीरिक बनावट बुद्वि, मलप्रवृत्तियां, स्वभाव तथा व्यक्तित्व आदि होते हैं। इन सबका शिक्षा के द्वारा समृद्व वातावरण देकर समुचित (स्वाभाविक) रूप से विकास किया जाता है ताकि वह एक अच्छा नागरिक बन सके। इस अर्थ तथा अभिप्राय का समर्थन विवेकानन्द, पैस्टालाजी

अरविन्द तथा महात्मा गांधी आदि चिन्तकों ने भी किया है।

वर्तमान समय में शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य माने जा रहे , जो बच्चों को व्यवसायिक शिक्षा और भौतिकता की दौड़ में उच्चता हासिल करने की शिक्षा देते है। जे0कृष्णमूर्ति जी सम्पूर्ण मानवता के लिए , सांस्कृतिक एक रूपता के लिए तथा समान नागरिक संहिता एवं जीवन विकास के लिये शिक्षा का मुख्य उद्देश्य "शास्वत जीवन" को समझने के लिए शिक्षा का उद्देश्य निश्चित किया है। शाश्वत जीवन को समझना बड़ा ही कठिन कार्य है। इसका विस्तार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापकता लिये हुए हैं। आपने लिखा है :–

"अज्ञानी वह व्यक्ति नहीं है , जो विद्वान या ज्ञानवान नहीं है , अज्ञानी वे व्यक्ति नहीं हैं, जो शाश्वत जीवन को नहीं जानते , और इस अववोध के लिए जब विद्वान व्यक्ति पोथियों पर ज्ञान पर, शक्ति पर निर्भर करता है तो वह मूर्ख है। अववोध केवल आत्मज्ञान से आता है, जोकि अपनी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अवधान है। इस प्रकार से शिक्षा का उद्देश्य शाश्वत जीवन को समझना है क्योंकि अस्तित्व अपनी सम्पूर्णता में हम में से प्रत्येक में अंतर्निहित है।"

मानव को शाश्वत जीवन को समझने के लिए जब हम तैयार करते है तो उसमें वैयक्तिक, सामाजिक, मानवीय तथा राष्ट्रीय सभी प्रकार के वर्तमान शिक्षा के उद्देश्यों का समावेश हो जाता है। आज के शिक्षा उद्देश्यों के कारण ही सम्पूर्ण संसार विकसित, विकासशील और अर्द्वविकसित राष्ट्रों में बट चुका है। परिणाम स्वरूप सभी में महत्वाकांक्षा और प्रतिस्पर्धा का बोल–वाला हो रहा है, जिससे व्यक्ति–व्यक्ति का शत्रु हो रहा है। राष्ट्रों के विभाजन , राष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय आतंकवाद , भय एवं दमन की प्रवृत्तियां विभिन्न बुराईयों को जन्म दे रही है, इस हेतु वर्तमान शिक्षा के उद्देश्य ही उत्तरदायी है। ऐसे समय में प्रत्येक व्यक्ति अपने शाश्वत जीवन को समझने के लिए प्रज्ञा तथा बोध को जाग्रत कर लें, तो संसार की सभी समस्याओं का समाधान स्वतः हो जायेगा।

जे0कृष्णमूर्ति जी ने शिक्षक की भूमिका को अप्रत्यक्ष में महत्वपूर्ण माना है। आज का शिक्षक

ज्ञानवेत्ता कम होता है, राजनेता, व्यवसायी, धर्म परायण आदि रूपों में अधिक दिखलाई देता है। परिणाम स्वरूप शिक्षक और मानवता के बीच एक मनोवैज्ञानिक द्वन्द पैदा हो गया है। यदि शिक्षक पूर्ण है तो वह अज्ञान रूपी अंधकार को उसी प्रकार से दूर करने में समर्थ होता है जैसे घने अंधेरे को एक टिम टिमाता दीपक दूर करता है। इसी प्रकार से समर्थ शिक्षक जिसमें बोधका, प्रज्ञा का, चेतना का , नन्हा सा स्रोत विकसित हो चुका है , बच्चों के व्यक्तित्व को दूषित और पल्लवित करने में समर्थ होता है।

वर्तमान का शिक्षक अपने व्यक्तित्व का विकास वंशानुक्रमीय विशेषताओं , शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा अनुभव और प्रशिक्षण के द्वारा करता है। इस प्रकार से वह बच्चों को समझकर अपने शिक्षण कौशल द्वारा उनके सर्वागीण विकास में सहयोग करता है। शिक्षक व्यक्तित्व के बारे में एक कहावत प्रसिद्व है, "शिक्षक जन्म लेता है, बनाया नहीं जा सकता हैं"। वैज्ञानिक तकनीकी और मनोविज्ञान के प्रशिक्षण ने इस कहावत की उपादेयता को गलत सिद्व कर दिया है। व्यवहार मनोविज्ञानी, "वाटसन" का विश्वास प्रशिक्षण के द्वारा मन चाहा व्यक्तित्व विकसित करने में था। लकिन जे0कृष्णमूर्ति जी शिक्षक के बाह्य तथा ऑतरिक विकास की भूमिका पर जोर देते है। बच्चों को शिक्षा देते समय एक शिक्षक में ऐसी दृष्टि होनी चाहिए जो उनके अन्दर तथा बाह्य की यांत्रिक प्रक्रिया की अपर्याप्तता को जानकर पूर्ण शिक्षा देने का कार्य करें। आपका मानना है कि "शिक्षक के रूप में मेरा सम्बन्ध यदि केवल पुष्पों से है, जिसमें विलक्षण आभा तथा सौन्दर्य है और मैं दक्ष नहीं हूँ तो मुझ में ही त्रुटि है और यदि मेरा सम्बनध गणित की निपुंणता से है और बाह्य सौन्दर्य से नहीं है तो भी मेरी ही त्रुटि है। अतः शिक्षक को दोनो प्रकार की निपुणता को स्वंय में विकसित करना होगा ताकि वह सम्पूर्ण मानवता के प्रति संवेदनशील हो सके और बच्चों में भी संवेदनशीलता तथा प्रज्ञा की गुणवत्ता का विकास कर सके।

शिक्षा–शिक्षण का तृतीय विशेष अंग या पक्ष छात्र होता है, जिसको ज्ञान देना, सिखाना या भविष्य के नागरिक के रूप में तैयार करना होता है। आपने समय समय पर बच्चों से उनके बारे में

ज्ञान के बारे में, शिक्षा के बारे में , चर्चा में की और कुछ प्रश्न उठाये। बालक क्या है? बालक शिक्षित क्यों होना चाहता है? बच्चों को शिक्षा कैसे दी जाये? उनमें अभिनव मानव के गुणों का विकास कैसे किया जाये? आदि। सामान्यतया शिक्षा को स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया न मानकर अपनी परम्पराओं , संस्कृति, धार्मिक एवं प्रचलित मूल्यों के अनुरूप बालकों को एक ढाँचे में ढालने का प्रयास किया जा रहा है, जो वास्तव में सही या उपयुक्त शिक्षा नहीं है। आपके मतानुसार छात्र को शिक्षा के द्वारा "अभिनव मानव" बनाया जाये। इसमें संवेदनशीलता, ध्यान की एकाग्रता, सत्य की पहचान, सौन्दर्य का उपभोग, धार्मिक दृष्टिकोण, वैज्ञानिक निरीक्षण, खोजी प्रवृत्ति तथा स्वतंत्रता एवं अनुशासन आदि छात्र व्यक्तित्व की विशेषतायें आती हैं। आपने शिक्षा संवाद (पृ01) पर लिखा है :–

"शिक्षा के द्वारा बच्चों को वैज्ञानिक अवलोकन का प्रशिक्षण दिया जाये। पुस्तकें जो कह रही है, उसे सुना जाये कि वह सच है या झूठ है। परीक्षा पास करना, पद प्राप्त करना, या समाज में सुस्थित होना ही शिक्षा नहीं है, बल्कि छात्र इस योग्य बने कि पक्षियों की क्रीड़ाओं से आनन्द ले सकें, आकाश को देख सकें, तथा उनके साथ अनुभव कर सके या उनका अपरोक्ष रूप से साक्षात्कार कर सकें।"

निष्कर्षात्मिक रूप में कहा जा सकता है कि बच्चों को शिक्षा के द्वारा एक अभिभव मानव के व्यक्तित्व में पल्लवित करना है ताकि वह सम्पूर्ण संसार और प्रकृति के प्रति संवेदनशील हो सके और स्वंय उन्हीं में से एक महसूस करके ध्यान की एकाग्रता को स्थापित करें। ध्यान की एकाग्रता के अन्तर्गत हमें देखना होता है कि हमारा मन कैसे कार्य करता है? हमारे विचार कैसे है? वे किस प्रकार से उत्पन्न होते है और उनका प्रयोजन कैसे पूरा होता है? इस प्रक्रिया का बच्चों में विकास करना ही ध्यान की एकाग्रता है। बच्चों में सत्य को जानने की जिज्ञासा होनी चाहिए। इस हेतु बुद्धि का सही प्रयोग आवश्यक होता है। बुद्धि संवेदनशील, सतर्क एवं सजग होनी चाहिए ताकि स्वस्थ चिंतन की प्रवृत्ति का विकास करने के लिए उसमें वस्तुनिष्ठता का विकास किया जा सके। यही

सतर्कता ,जागृति छात्रों को सत्य का ज्ञान कराती है। इसके साथ ही बच्चों को वास्तविक सौन्दर्य की अनुभूति करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए ताकि वे संसार में फैले पृथ्वी के वृक्षों के, रंग के छायायों के, प्रकाश के तथा पक्षियों के सौन्दर्य का अवलोकन करके अपनी पीड़ा को मिटा सके और वैज्ञानिक निरीक्षण को विकसित करके उस सत्य की खोज कर सके जो अजर और अमर है। जब व्यक्ति के अन्दर धार्मिक भावना तथा वैज्ञानिक मन का विकास होता है, तो उसमें समानता, सहयोग , भाईचारे की भावना का उदय होता है जो सम्पूर्ण मानव जाति व प्राणी मात्र के लिए होता है। इसी के साथ बच्चों में वैज्ञानिक मन का विकास करना चाहिए ताकि वह प्रत्येक वस्तु को वैसा ही देखे जैसे वह वास्तव में होती है। अतः प्रत्येक बच्चे को सत्य का आभास कराना ही, ईश्वर का दर्शन कराना होता है।

बच्चों के विकास में स्वतंत्रता तथा अनुशासन के महत्व पर जे0कृष्णमूर्ति जी ने बहुत बल दिया है। आपने अनुशासन को 'व्यवस्था का नाम दिया है। अनुशासन शब्द में व्यक्ति में आरोपित या नियंत्रित व्यवहार होता है। आज शिक्षा में इस शब्द का अर्थ अनुकूलन, अनुकृति, आज्ञा पालन आदि रूपों में लगाया जाता है। इसकी अपेक्षा यदि छात्र दूसरों का ध्यान रखे , शिक्षक के व्याख्यान को ध्यान से सुने ,समय का पालन करे ,नियमित कक्षा में अध्ययन करे और प्रत्येक क्रिया या व्यवहार सही ढंग से करें तो यही व्यवस्था है जो स्वनिर्मित और स्वविकसित होती है। इसी से स्व अनुशासन का जन्म होता है, जो स्वतंत्रता को जन्म देता है। स्वतंत्रता में ही अच्छाई , प्रेम और प्रज्ञा का प्रस्फुटन होता है। आपने लिखा है कि :—

"स्वतंत्रता के लिये अत्यधिक सम्यक बुद्धि की, संवेदनशीलता, और अवबोध की आवश्यकता होती है और फिर भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य चाहे वह किसी भी संस्कृति का क्यों न हो स्वतंत्र हो। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि स्वतंत्रता बिना व्यवस्था नहीं हो सकती है। इसी का अनुमोदन महान शिक्षा—शास्त्री"रूसों" ने अपनी पुस्तक "एमील" में निम्न प्रकार से किया है :—

ईश्वर सभी वस्तुओं को अच्छी बनाता है परन्तु वे मनुष्य के हाथो में पड़कर बुरी हो जाती है।..... वह हेय एवं कुरूप से प्यार करता है वह मनुष्य को भी स्वाभाविक रूप से विकसित नहीं होने देता। अतः बालक की स्वतंत्रता और अनुशासन स्वनिर्मित होना चाहिए।''

अतः शोधकर्ती अनुशासन और स्वतंत्रता को बालक के विकास के लिये अनिवार्य मानती है। जिसका स्वाभाविक विकास बच्चों में सम्यक बुद्धि, अवबोध और संवेदनशीलता के द्वारा ही किया जा सकता है। एक स्वतंत्र तथा अनुशासित व्यक्ति अन्य से बिल्कुल भिन्न होता है। समाज या तो उसकी पूजा करता है या उसे दुत्कार देता है। स्वतंत्रता निष्प्रयोजन होती है। उससे किसी को न लाभ होता है और न हानि । इसी को प्रेम की अवस्था भी माना गया है।

सामान्य निष्कर्ष

जे0कृष्णमूर्ति जी 20 सदी के विस्फोटक विचारक रहे है। उन्हें सीमा में बांधना, उनके विचारों की अवहेलना करना होगा। आपने शिक्षा क्षेत्र के अलावा अन्य क्षेत्रों में भी शिक्षा द्वारा ही योगदान दिया गया है, जिसका शोधकर्ती द्वारा निष्कर्षात्मक स्वरूप निम्न प्रकार से प्रस्तुत है:–

आपने अपने अनुभवों को युगदृष्टा, चिन्तक तथा मानवीय संवेदना के आधार पर व्यक्त किया है। इसीलिए व्यक्ति की मौलिकता की अनुभूत आपने शिक्षा के क्षेत्र में लागू की। व्यक्ति की मौलिकता या स्वाभाविक विकास जिस पर महान शिक्षा–शास्त्री रूसों , पैस्टालाजी ,टी0पी0 नन आदि ने तथा वर्तमान के महत्मागांधी, टैगोर, अरविन्द आदि ने विशेष बल दिया है। आपने मौलिकता के विकास को अनौखा या व्यक्तिगत बताया है जिस पर हमें स्वंय ही चलना है, किसी का सहारा लिये बगैर , क्योंकि मानव की समस्त प्राचीन अवधारणायें और संस्कार उसकी मौलिकता को निश्चित रूप प्रदान करती है जो उसका न होकर समाज का होता है। जब व्यक्ति संस्कारों , आस्थाओं और मान्यताओं से मुकत होकर नवीन सोच, परिस्थिति, संस्कृति, तथा मूल्यों का सृजन करेगा तो वही अपने को समग्र तथा अभिनव या मौलिक मानव के रूप में तैयार कर सकेगा। इस विकास में शिक्षा का प्रत्यक्ष सहयोग अवलोकन शक्ति के विकास के रूप में होना चाहिए जो व्यक्ति, वस्तु, विचार,

स्थिति आदि का यथार्थ ज्ञान हासिल कर सकें। इस परिवर्तन के द्वारा ही वह वर्तमान संस्कारों, आदर्शों और मिली–जुली संस्कृति से मुक्त होकर मौलिक परिवर्तन का रचनात्मक क्षेत्र में क्रियान्वन करेगा।

मानव मात्र का विकास यथार्थवादी सोच, दृष्टिकोण के द्वारा विकसित होना चाहिए। जे0कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि हमें प्रत्येक समस्या, वस्तु या परिस्थिति का ज्ञान उसके यथार्थ स्वरूप में करना चाहिए। इसी आधार पर आपने अपने विचारों को यथार्थवादी दर्शन का नाम दिया है, जिसके तहत जीवन की सभी समस्यायों का निदान आसानी से हो जाता हैं यथार्थवादी दर्शन के आधार स्वरूप सत्य का ज्ञान, आत्मबोध, प्रज्ञा और स्वतंत्रता तथा व्यवस्था आदि को व्यक्ति अपनाये तो वह जीवन की शाश्वता, निभ्रम, निर्भय ,होकर समस्या मुक्त होगा और सज़ग तथा परमानन्द को प्राप्त करेगा। उसके दृष्टिकोण में एकता, सार्वमौमिकता सहयोग, प्रेम, स्वतंत्रता ,समानता, अंहिसा एवं सत्य जैसे उत्कृष्ट मूल्यों का सहज विकास हो सकेगा, जो मानवता के लिये अर्ह होते है।

जे0कृष्णमूर्ति जी के विचार किसी व्यक्ति, समाज, जाति सम्प्रदाय या राष्ट्र की सीमाओं में कैद नहीं है , 'बल्कि वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से ओत प्रोत है। वे स्वंय को भारत का, थियोसोफिकल सोसायटी का नागरिक न मानकर अन्तर्राष्ट्रीय मानवीयता का नागरिक मानते है। इसी लिए वे विश्वशांति की स्थापना के लिए सार्वभौमिक ह्दय की गहराई को मानवीय संवेदना के स्तर पर, स्वंतत्रता, समानता , भाईचारा, समान , न्याय पद्वति, समान नागरिकता आदि मानवीय विचारों को महत्व देते हैं इस प्रकार से सभी में अलगाव के स्थान पर एकता, सहयोग का भाव तथा मानव मात्र के प्रति संवेदना प्रगट हो सकेंगी जिनका वर्तमान राजनीति में अभाव है और संसार से हमेशा के लिए युद्व , क्रान्ति अलगाववाद समाप्त होकर प्रत्येक के हृदय में शांति की स्थापना होगी।

मानव मात्र को भौतिक भाव. से ऊपर उठकर सत्य की अनुभूति के प्रति जागरूक होना चाहिए ताकि वह जान सके कि "सत्य ही भगवान" हैं इस भावना का विकास व्यक्ति को सभी

प्रकार के भ्रमों से , अंधविश्वासों से , संघर्षो से, और संस्कारों के प्रभावों से मुक्त करके परमानन्द का आनन्द प्रदान करेगा। इस प्रकार का सोच न केवल शिक्षा धर्म प्रशासन, संस्कृति के विकास में सहायक होता है बल्कि जीवन के प्रत्येक पक्ष के विकास में उपयोगी सहायक होगा। जैसाकि महत्मागांधी ने सत्य और अंहिसा के मार्ग पर चलकर सम्पूर्ण मानवता का हित किया ,सर्वविदित है। रोहित मेहता ने लिखा है कि "कृष्णमूर्ति जी वर्तमान समय के एक मौलिक एवं क्रान्तिकारी विचारक है। उन्होंने एक अनोखे दर्शन (शिक्षा) का विकास किया है। उनके दर्शन की एक विशिष्टिता है– चुनाव रहित सजग चेतना। उनका कहना है कि जीवन की किसी भी समस्या को होशपूर्वक देखों और मुक्त होओ। इसीलिए जब वे किसी को आर्शीवाद देते थे तो सत्य बोलते थे और कहते थे कि जो आपके लिये अच्छा हो वही हो। यानि आपके लिये जीना अच्छा हो तो आप जियें और मृत्यु अच्छी हो तो मृत्यु के प्राप्त करें।" इस प्रकार से बिना लगाव के दार्शनिक ही अपने विचार को सत्य रूप में व्यक्त कर सकता है। यही सत्य की अनुभूति है और ईश्वर को जानना है।

वर्तमान सोच ने शिक्षा को समाज और प्रशासनिक बंधनों में जकड़ दिया है जो निश्चित किये गये दायरे में दी जाती है और उससे निकलने को फड़फड़ाती है। परिणाम स्वरूप मानव समाज ने संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष–भाव आक्रमण और मोह–माया आदि में स्वंय को फसा लिया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति से मानव समाज तृस्त हो चुका है। इससे बचने के लिए जे0कृष्णमूर्ति जी एक ही रास्ता बतलाते है जो है– समाज के बनावटी सोच में परिवर्तन लाना ताकि प्रत्येक सदस्य में नवजीवन और नवशक्ति का संचार होकर "स्व" का प्रस्फुटन हो सके। यही "स्व" सभी में समान रूप से बैठा हुआ है जो किसी संस्कार ,रिवाज़ , परम्परा, आदर्श को नहीं मानता है बल्कि सजगता के साथ निरीक्षण करके स्वंय की प्रज्ञा का विकास करते है। जब सभी में स्व, प्रज्ञा, तथा आत्मज्ञान का विकास हो जायेगा तो एक अभिनव मानव का विकास होगा। यही अभिनव मानव मिलकर एक मानव समाज का निर्माण करेगें जिसमें किसी भी प्रकार की अशांति , द्वेषभाव और असमानता नहीं होगी, बिल्क सभी परमानन्द जीवन का आनन्द प्राप्त करते हुए नये संसार का सुख प्राप्त या भोग सकते है।

ऐसा माना गया है कि व्यक्ति जन्म से धार्मिक होता है। प्रत्येक समाज अपने उत्तराधिकारियों को धार्मिक भावना का प्रारम्भ से ही प्रशिक्षण देते है। लेकिन जे0कृष्णमूर्ति जी ने संसार के सभी धर्मो का विरोध किया है। उनका कथन है कि प्रचलित धार्मिक परम्परा व्यक्तिके मन को प्रतिबद्ध कर देता है , क्योंकि इनमें विचार, अंध भक्ति, अंधविश्वास , रूढ़िया, आडम्बर, दिखाबा, बनावटीपन भरा हुआ है। सभी धर्मो का अपना संगठन है, साहित्य है, पुजारी तथा अनुयायी होते है। ये धर्म के ठेकेदार बनकर व्यक्तियों को भयभीत करके, धमकाकर और प्रलोभन देकर अनुयायी बनने को विवश करते है। ये लोग अपने अपने तरीके से स्वर्ग और नरक की परिकल्पनायें करते है , ताकि लोग इनसे जुड़कर इनका सम्मान व मान करते रहे। यद्यपि सभी धर्म यही दावा करते है कि उनका धर्म ही श्रेष्ठ है और वह ईश्वर की वाणी बोलता है। हमारा धर्म ही सच्चा, भाईचारे वाला, करूणा फैलाने वाला और मानवीय गुणों को व्यक्त करने वाला है।

जे0कृष्णमूर्ति जी मानते हे कि धर्म सभी के लिये सुलभ है और प्रत्येक व्यक्ति उसे आसानी से प्राप्त कर सकता है। जब हम स्वचेतना से मुक्त होकर समिष्ट में प्रवेश करते है तो हमारे सभी द्वैत भाव मिट जाते है और हम स्वंय को सत्य में स्थापित करने में सफल होते है जो सही धर्म है। अतः शोधार्थिनी धर्म के बारे में निम्न निष्कर्ष पाती है :-

1. धर्म ही सत्य है और सत्य ही ईश्वर है जिसने इस संसार को बनाया तथा पालन–पोषण करता है और इसमें परिवर्तन लाता है।
2. सभी मनुष्यों के साथ प्रतिबद्ध होना, भाई–चारा स्थापित करना, समानता, स्वतंत्रता और आदर–सम्मान देना आदि ही धार्मिकता है जिससे सभी में एकीकरण का भाव पैदा होता है।
3. स्वचेतना से विलग होकर समिष्ट के साथ एकाकार करना ही धर्म है जिससे "वसुधैव कुटुम्बकम् " की भावना को बल मिलता है।
4. धर्म कोई कर्मकाण्ड, या पूजा करने की प्रकिया नहीं है बल्कि मानवता के प्रति गहरी समझ तथा निरीक्षण का विकास करना है, ताकि यथार्थ को जाना जा सके।

5. धर्म कोई मोक्ष या मुक्ति नहीं होता है बल्कि संसार की प्रत्येक वस्तु को उसके यथार्थ में जानना और उनके पार चले जाना है इस भाव के प्रगट होने मात्र से आशक्ति समाप्त हो जाती है और परमानन्द आ जाता है, वही धर्म है।

शिक्षा के द्वारा छात्र का सर्वागीण विकास किया जाना चाहिए। ताकि वह अच्छा मनुष्य बन सकें। इस हेतु जे0कृष्णमूर्ति जी ने अपनी शिक्षा के द्वारा "अभिनव मानव" के विकास का सुझाव दिया है। इस हेतु हमें निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए :–

1. शिक्षा के द्वारा प्रत्येक बच्चे को संवेदनशील बनाया जाये ताकि वह सभी के सुख–दुःख का भागी बनकर शांत मन से अपनी प्रज्ञा शक्ति का विकास कर सकें। संवेदनशील बनने के लिए बच्चों को भौतिक जगत का निरीक्षण करना चाहिए फिर मन की एकाग्रता को ध्यान के द्वारा स्थापित करना चाहिए, फिर अपनी बुद्दि का सकारात्मक प्रयोग करना चाहिए। इसके पश्चात बच्चों में प्रज्ञा का विकास हो सकता है।

2. अभिनव मानव का विकास सत्य के ज्ञान के बिना अधूरा होता है। अतः शिक्षा के द्वारा बच्चों को सत्य की अनुभूति के योग्य बनाया जाये ताकि वे सत्य के द्वारा ईश्वर तथा उसके अपरिमित संसार को जान सके। आज के भौतिकवाद ने लोगों को नास्तिक बना दिया है, जो मानव जाति के विकास में बाधक है। यदि थोड़े से शिक्षक भी इस बात को समझकर बच्चों को शिक्षित करें तो आने वाली एक नवीन शिक्षा का निर्माण हम करने में समर्थ होगें।

3. शिक्षा के द्वारा बच्चों के विकास में सौन्दर्यानुभूति का विशेष महत्व है। सौन्दर्यानुभूति से तात्पर्य प्रत्येक क्षेत्र में सुन्दरता का विकास करना। जे0कृष्णमूर्ति जी का विश्वास है कि जब "स्व" नहीं होता है तो सौन्दर्य होता है। जहां आप अपनी समस्याओं , परम्पराओं और जिम्मेदारियों के साथ नहीं होते है तब सौन्दर्य की अनुभूति होती है। अतः शिक्षा के द्वारा बच्चों में सौन्दर्य के प्रति रूचि, और अनुभव करने की क्षमता का विकास भी होगा।

4. वैज्ञानिक मन या सोच प्रत्येक ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण क्रमबद्वता और प्रयोग के द्वारा करता है।

जब शिक्षा के द्वारा अभिनव व्यक्तित्व का विकास किया जाता है तो उसके मन को वैज्ञानिक सोच में विकसित किया जाये । साथ ही उसमें गहरी और यथार्थ निरीक्षण प्रवृत्ति का विकास किया जाये, ताकि वह जिस ज्ञान की अनुभूति कर रहा है वह सार्थक होनी चाहिए।

5. शिक्षा के द्वारा बच्चों में जिज्ञासा की प्रवृत्ति का विकास इस तरीके से किया जाये जिससे वह संसार की वास्तविकता को खोज सकें। अतः शिक्षा से सम्बन्धित व्यक्ति बच्चों को संतुष्ट न होने दें, बल्कि उसको प्रेरित करते रहे ताकि वह अधिक से अधिक खोज में लगा रहे। यही खोजी प्रवृत्ति बच्चों में सक्रियता, स्फूर्ति और सृजनशीलता का विकास करती है।

6. अभिनव व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वतंत्रता तथा अनुशासन को आवश्यक माना जाये। शिक्षा के द्वारा बच्चे कैसे स्वतंत्र तथा व्यवस्थित रह सकते है? इस सन्दर्भ में जे0कृष्णमूर्ति जी का मत है कि अपनी आंतरिक पराधीनता को जब हम समझ लेते है और उसकी लिप्तता से स्वंय को मुक्त कर लेते , तब हम स्वतंत्रत होते हे। इसी प्रकार से जीवन के प्रत्येक कार्य को सही ढंग से करते रहना और जीवन की विसंगतियों से बचते रहना ही वास्तविक अनुशासन होता है।

जे0कृष्णमूर्ति जी ने अपने शिक्षा दर्शन में कुछ ऐसे तत्वों पर भी प्रकाश डाला है जो भौतिकवादी जीवन को सही रूप से जीने में सहायक होते है। वे सभी तत्व व्यक्ति के दैनिक जीवन और व्यवहार को सही पथ पर चलने की प्रेरणा देते है। उन तथ्वों के निष्कर्षो को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा रहा है :–

1. शिक्षा के द्वारा बच्चों को आत्मज्ञान देने का प्रयास करना चाहिए। व्यक्ति एक साथ भौतिक जगत और आंतरिक जगत दोनो का उपभोग करता है। आंतरिक जगत का निर्माण जीवन के विभिन्न अनुभवों के संग्रहण से होता है जो "स्व" कहलाता है। इसको जानना ही आतमज्ञान होता है। अतः प्रत्येक बच्चों को आत्मज्ञान दिया जाये ताकि वह स्वंय के सही स्वरूप के बारे में जान सके, क्योंकि आत्मज्ञान का अभाव उसके व्यक्तित्व विकास में बाधक होता है।

2. शिक्षा के द्वारा इस संसार और उसके समस्त प्राणियों को बनाने वाला कौन, क्या, तथा कैसे आदि रूपों है सभी बच्चों को सही ज्ञान दिया जाये ताकि साम्प्रदायिक वैमनस्य को संसार से विलुप्त करके आनन्द को प्राप्त करें। आपने ईश्वर की वर्तमान धारणा को अमान्य न मानकर सरल किया है। वे ईश्वर को सत्य मानते है जो प्रत्येक स्थान पर फैला हुआ है , उसको देखने की एक दृष्टि चाहिए। ईश्वर कभी भी दृश्य नहीं बन सकता वह तो परम मौन की अवस्था में स्वंय ही उपस्थित हो जाता है जैसे वायु को हम मुटटी में नहीं पकड़ कर रख सकते , वैसे ही ईश्वर को हम पकड़ कर एक स्थान पर नहीं बिठा सकते।

3. शिक्षा के द्वारा बच्चों में ज्ञान भण्डार की वृद्धि और अपनी प्रज्ञा शक्ति के विकास के लिए तैयार करना चाहिए ताकि वे सांसारिक भाव से निकलकर आत्मज्ञान के भाव में जीवन--यापन कर सकें। मानव द्वारा स्थापित विचार तथा कल्पनाओं का समूह ही ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होता है। संसार का प्रत्येक व्यक्ति अपने द्वारा और दूसरों का अनुसरण करके कुछ न कुछ सीखता है और इन्हीं का एकत्रीकरण अनुभव संग्रह होता है। इसी अनुभव संग्रह को ज्ञान का नाम दिया जाता है। लेकिन जब हम अपनी संवेदनशीलता और चुनाव रहित सजगता से किसी घटना को उसकी सम्पूर्णता में देखते है तो यह अवलोकन ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जो प्रज्ञा को जन्म देता है। इस प्रकार से प्राप्त किया गया ज्ञान प्रज्ञा का एक उपकरण मात्र है जिससे हम अपनी प्रज्ञा का विकास करते है जो हमें सही निरीक्षण करने की यथार्थ की पहचान करने की और परमानन्द की शक्ति जानने की क्षमता प्राप्त होती है।

4. आज समस्त भूमण्डल विभिन्न समस्यायों के हल के प्रति जागरूक तथा सक्रिय है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने इसमें जनसंख्या वृद्धि को भी एक मुख्य कारण माना है। आज सभी सरकारें जनसंख्या शिक्षा का प्रसार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कर रही है , फिर भी समस्या पर नियंत्रण नहीं हो पा रहा है। अतः जे0कृष्णमूर्ति जी द्वारा बृह्मचर्य के प्रत्यय को

शिक्षा में लागू किया जाये तो जनसंख्या वृद्दि एवं नियंत्रण में सहायता प्राप्त हो सकती है। आप काम वासना को व्यक्ति की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकता मानते है उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। शिक्षा के द्वारा बच्चों को समझाया जाये कि काम वासन कोई क्रिया नहीं है बल्कि एक विचार है जो हमारी समस्या बना हुआ है। अतः इस समस्या का निदान तभी होगा जब विचारकर्ता ही समाप्त हो जाये। अतः वास्तविक वृह्मचर्य में मन में काम भावना का दमन नहीं होता है अपितु विचारकर्ता के भाव समाप्ति का परिणाम है। इस भाव की शिक्षा या सोच सर्जनशील होता है और मानव को सुखी एवं आनन्दित भी करता है।

5. शिक्षा के द्वारा बच्चों में अन्तर्राष्ट्रीय सद्‌भावना का विकास विश्व शांति एवं कल्याण के लिए होना चाहिए। आज संयुक्त राष्ट्र संघ इस कार्य को सही ढंग से पूरा करने में पक्षपात कर रहा है। अतः जे0कृष्णमूर्ति जी के विचार से प्रतियोगी स्वभाव, अविश्वास, प्रथक्करण की नीति, नेताओं के स्वार्थ, धर्मान्धता आदि कारणों से विश्व में अशांति फैल रही है। हम शिक्षा के द्वारा और शिक्षकों की सहायता से बच्चों में मौलिक परिवर्तन लाये ताकि वे प्रत्येक प्राणी के प्रति सम्पयक भाव, सम्यक जीवन, सम्यक शिक्षा तथा सम्यक जीविकोपार्जन आदि के भाव को जागृत कर सकें। ये भाव तभी जागृत किये जा सकते है जब बच्चों में शिक्षा के द्वारा प्रेम, करूणा, दया और विनम्रता का विकास हो। हम अपने को समझे और जीवन को सुखमय विवेकमय और प्रेममय बनाते हुए नवीन मानव समाज का नवनिर्माण करें, तभी शांति की कामना की जा सकती है।

वर्तमान शिक्षा विभाग हेतु सुझाव

प्रत्येक राष्ट्र के शिक्षा विभागों का कार्य वर्तमान शिक्षा प्रणाली की नीति को निर्धारित करना, जिससे वर्तमान की समस्याओं का निराकरण हो और भावी पीढ़ी अपनी मानसिक आवश्यकता को संतुष्ट कर सके। इसके लिये शिक्षा विभाग को वद्वतवर्ग और विशेषज्ञों की एक समित बनानी होती

है जो अपने अध्ययन से शिक्षा की नीति का निर्धारण करती है और सरकार उसको देश के विद्यालयों में लागू करती है। अतः शोधकर्ती ने इस अध्ययन से कुछ शैक्षिक सार्थकता ज्ञात की है जिसका पालन शिक्षा विभाग द्वारा किया जा सकता है :—

1. शिक्षा की नीति के निर्धारक भारतीय शिक्षा पद्धति और दर्शन को जानने वाले हो, विशुद्ध निरीक्षण करने वाले हो, प्रज्ञावान हो, उनके हृदय में कल्याण के भाव हो, वे खोजी स्वभाव के हो और प्रत्येक प्रकार के भय, प्रतिस्पर्धा और लगाव से मुक्त हो।

2. शिक्षा का प्रमुख स्तम्भ शिक्षक होता है। उसका निर्माण करना, प्रशिक्षण करना सरकारी विभाग का कार्य होना चाहिए जिससे उसकी ऑतरिक शक्त्यिों का विकास तथा परिमार्जन इस प्रकार से किया जाये ताकि वह अपने में प्रज्ञा खोजी प्रवृत्ति, ध्यान सजग निरीक्षण का विकास कर सके। इस प्रकार से जो शिक्षक तैयार होगा वह पूर्ण मानव होगा और अद्वैत में विश्वास करने वाला होगा। ऐसा ही शिक्षक सही रूप से बच्चों को शिक्षा देने में समर्थ हो सकता है।

3. अपने नागरिकों को शिक्षित करने के लिए शिक्षा विभाग को ऐसा पाठ्यक्रम या ज्ञान का समूह एकत्रित करना चाहिए जो भौतिक ज्ञान भी दें और आत्म ज्ञान के विकास में भी सहायक हो। दोनो के सामंजस्य से ही बच्चों का विकास सही रूप से बन सकेगा।

4. बच्चों का स्वाभाविक विकास किया जाये। उनपर किसी परम्परागत शिक्षा को थोपा न जाय उनके स्वाभाविक विकास के लिए विद्यालय का पर्यावरण साधन सम्पन्न और प्राकृतिक होना चाहिए, जिसमें सभी बच्चे अपने अन्दर सौन्दर्य की अनुभूति स्थापित कर सकें। जब उनमें सौन्दर्यानुभूति के भाव का विकास होगा तो वे अपने अन्दर प्रेम की अनुभूति कर सकेंगे, और यही प्रेम उनका तादात्म, समिष्ट के साथ कराने में सफल होगा। इस भाव से ओत–प्रोत बच्चें सभी में और सर्वत्र स्वंय को महसूस करने लगते है और उनमें प्राणी मात्र के लिए समानता, स्वतंत्रता , भाईचारा, करुणा, दया आदि भाव जाग्रत हो जायेगें, जिनकी आज के

संसार को नितान्त आवश्यकता है।

5. बच्चों में शिक्षा के द्वारा व्यवस्थित जीवन जीने की आदत का विकास करना चाहिए जिससे वे अनुशासन को अपनाकर स्वाभाविक विकास कर सकें। यह अनुशासन प्रभावात्मक होना चाहिए ना कि दण्डात्मक। अतः बच्चों की नैसर्गिक शक्तियों के विकास के लिए अनुशासन और स्वतंत्रता की सही व्यवस्था होनी चाहिए । यह व्यवस्था अनुकरणीय होनी चाहिए, जिससे सम्पूर्ण मानव समाज एक अपूर्ण ऊर्जा के साथ ओत–प्रोत होकर राष्ट्र के विकास में सकारात्मक सहयोग दे सकें।

6. शिक्षा के द्वारा बच्चों में नैतिक शिक्षा आदर्श तथा नैतिक मूल्यों का विकास करना भी अनिवार्य है, जिससे प्रत्येक बच्चा प्रत्येक व्यक्ति, समाज , सम्प्रदाय, धर्म और आध्यात्म का आदर व सम्मान करना सीख सके। आज संसार में भिन्नता के स्थान पर एकता की आवश्यकता है जो सही नैतिकता की शिक्षा के द्वारा सम्भव हो सकती है।

7. आज संसार में शांति स्थापना हेतु जो प्रयास हो रहे है, वे स्वार्थ से भरे हुए है। इसके लिए शिक्षा के द्वारा बच्चों में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास होना चाहिए। इस भाव के विकास के लिए शिक्षकों के प्रयत्न , पाठ्यक्रम में पाठो का समहित होना, गोष्ठियों का आयोजन , पाठ्य सहगामी क्रियाओं तथा अन्य क्रियाओं का आयोजन होना चाहिए, जिससे प्रत्येक बच्चा अपनत्व, प्रेम, संवेदना आदि को समझ सके और स्वंय को एक राष्ट्र ,जाति, धर्म का नागरिक न मानकर संसार का नागरिक मानें। इस प्रकार से प्रत्ये क बच्चा अकेला महसूस न करकें, समिष्ट का एक हिस्सा मान सकेगा। यही भाव संसार से युद्व , आतंक, द्वेष– ईर्ष्या और धार्मिक आडम्बरों को दूर करने में समर्थ होगा।

8. शिक्षा प्रदान करने के लिए व्यक्तियों के मन में उत्सुकता हो जिससे वे वर्तमान की सबसे बड़ी समस्या " जनसंख्या शिक्षा" की विकरालता को समझ सकें, और विभिन्न प्रकार के सकारात्मक कार्यक्रमों को इस प्रकार से क्रियान्वित करें जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर जनसंख्या, नियंत्रण, विकास एवं सदपयोग को अपना सके। इस हेतु प्रस्तुत शोध के

निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत है :–

(अ) भारत देश के लिये बृह्मचर्य शब्द का प्रयोग आदि काल से चला आ रहा है। अतः इस शब्द की सही और सामयिक परिभाषा, उपयोग तथा क्रियान्वयन प्रस्तुत किया जाये।

(ब) जनसंख्या का नियंत्रण करने के लिए सरकार, सामाजिक संस्थाओं को मिलकर प्रयास करना चाहिए ताकि यौन शिक्षा का वासनामय रूप पुस्तकों पत्रिकायों , चलचित्रों, और दूरदर्शन के द्वारा जनता को न परोसा जाये।

(स) चलचित्र, दूरदर्शन और फैशन प्रदर्शनों का फूहडता युक्त प्रदर्शन बन्द हो, ताकि स्त्री जाति को देवी का सम्मान मिल सके। लोगों के मन से स्त्री के प्रति भोग और वासना की सोच निकल सके। इस हेतु प्रत्येक क्षेत्र में समानता के अधिकार और समान नागरिकता प्रशासन के द्वारा कढ़ाई के साथ लागू किया जाये। साथ ही उनके सम्मान के कार्यक्रम चलाये जाये।

(द) जनसंख्या शिक्षा के द्वारा लकडा–लडकी में भेद–स्थापित करने की भावना को समाप्त किया जाये ताकि लड़कियों को आबादी में आने वाली गिरावट समाप्त हो, और उनको वैदिक कालीन मान्यता मिल सके।

(य) जनसंख्या शिक्षा का विद्यालयों में पढ़ाना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि व्यवहार में ऐसे कार्यक्रम प्रचलित हो जो स्त्री की नग्नता को , वासना को न दिखाकर उसकी विभिन्न क्षेत्रों में आवश्यकता का प्रदर्शन करें।

(र) जनसंख्या वृद्धि का तात्पर्य परिवार की अधिक वृद्धि करना नही है बल्कि उतनी वृद्धि करना है जिससे हम बच्चों का बढ़िया पालन पोषण करके अच्छा नागरिक बना सके इस भाव को जन साधारण में फैलाना है।

शोधकर्ताओं हेतु सुझाव

वर्तमान अध्ययन के द्वारा शोधकर्ती ने जे0कृष्णमूर्ति जी की शिक्षा के प्रति अपूर्व दृष्टिकोण का विश्लेषण प्रस्तुत किया है ताकि वर्तमान समय का भौतिकवादी दृष्टिकोण, आतंकवादी सोच तथा

आपसी प्रतिस्पर्धा आदि समाप्त होकर सिर्फ मानवीय गुणों का विकास सम्भव बनाया जा सके। इस अध्ययन ने अपने अन्दर उत्पन्न कुछ प्रश्नों को प्रगट किया है जिस हेतु उपयुक्त उत्तरों की आवश्यकता है ताकि प्रस्तुत शोध के क्षेत्र का अधिक विस्तार हो सकेगा और साथ ही साथ भविष्य के परिवर्तित शिक्षा प्रणाली में नया दौर का प्रारम्भ हो सकेगा :—

1. जे0कृष्णमूर्ति जी की शैक्षिक विचारधारा की तुलना अन्य शिक्षा शास्त्रियों की शैक्षिक विचारधारा के साथ की जा सकती है।
2. जे0कृष्णमूर्ति जी के मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक चिन्तन की सार्वभौमिकता एवं उसके प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है।
3. जे0कृष्णमूर्ति ने जिन मानवीय मूल्यों को संरक्षण प्रदान किया और जनतंत्रीय समाज के मूल्यों में क्या समरूपता है, का अध्ययन किया जा सकता है।
4. संसार में फैले वे शिक्षा के केन्द्र जो जे0कृष्णमूर्ति जी की शिक्षा नीति पर चल रहे है उनका वर्तमान शिक्षा प्रणाली के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।
5. जे0कृष्णमूर्ति के दार्शनिक पक्ष का अन्य भारतीय तथा विदेशी दर्शन शास्त्रियों के दार्शनिक पक्ष के साथ तुलना की जा सकती है।
6. जे0कृष्णमूर्ति जी ने थियोसोफिकल सोसायटी संगठन पर क्या प्रभाव डाला जिससे वे अपने समायोजन की स्थापना नहीं कर पाये, की समस्यायों का अध्ययन किया जा सकता है।
7. प्रशिक्षणरत शिक्षक छात्र/छात्रा व्यक्तित्व विशेषतायें तथा प्रतिमानों का अध्ययन जे0कृष्णमूर्ति जी के शिक्षा दर्शन के आधार पर किया जा सकता है।
8. जे0कृष्णमूर्ति जी की ध्यान की पद्वति का योग शिक्षा पर प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है।
9. जे0कृष्णमूर्ति जी के शैक्षिक विचारों का सृजन–शक्ति के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है, अध्ययन किया जा सकता है।

10. जे0कृष्णमूर्ति जी क "काम शिक्षा" सम्बन्धी विचारों का जनसंख्या शिक्षा पर क्या प्रभाव हो सकता है, का अध्ययन किया जा सकता है।

11. सामाजिक आर्थिक स्तर को मुख्य परिवर्ती मानकर स्वतंत्र रूप से अध्यापक लक्षणों के विकास का अध्ययन किया जा सकता है।

12. वर्तमान में फैली निरक्षरता को दूर करने में साक्षरता की समस्याओं को समाप्त करने में जे0कृष्णमूर्ति जी का शिक्षा दर्शन क्या प्रभाव स्थापित करता है ? का अध्ययन किया जा सकता है।

13. माता–पिता को प्रेरणा, सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास और शैक्षिक निष्पादन के बीच सम्बन्ध जे0कृष्णमूर्ति जी के शिक्षा दर्शन की उपादेयता पर निर्भर है, का अध्ययन किया जा सकता है।

संक्षेपिका

" जिद्दू कृष्णमूर्ति के दार्शनिक चिन्तन के शैक्षिक निहितार्थ का आलोचनात्मक अध्ययन।"

अध्ययन के उद्देश्य :-

शोधकर्ता ने अपने शोध अध्ययन के लिए निम्न प्रकार के उद्देश्य निर्धारित किय है :-

1. जे0कृष्णमूर्ति जी के जीवन दर्शन को प्रस्तुत करना।
2. जे0कृष्णमर्ति जी के दार्शनिक चिन्तन को प्रभावित करने वाली पारिवारिक , सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन करना।
3. जे0कृष्णमूर्ति के दार्शनिक चिन्तन में अंतर्निहित शैक्षिक बिन्दुओं को खोजना।
4. जे0कृष्णमूर्ति जी के शैक्षिक चिन्तन के निर्माण में अन्य दार्शनिक विचारों तथा तत्वों की विवेचना करना।
5. जे0कृष्णमूर्ति ने किस प्रकार से वैदिक सत्य (मूल्यों) को नवीनता देकर मानवीय मूल्यों की स्थापना की , का विवेचन करना।
6. समग्र अध्ययन के आधार पर शैक्षिक चिन्तन, को प्रस्तुत करना, ताकि मानवीय समस्याओं का निदान हो सके।

अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व

प्रस्तुत अध्ययन की उपादेयता गुरू–शिष्य सम्बन्धों को सार्थक भावना से देखने में भी हो सकती है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने व्यक्ति को स्वंय का गुरू व शिष्य दोनो माना है। वे हमेशा गुरू–डम के विरोधी रहे है। वे स्वंय के अन्दर आन्तरिक दृष्टि को विकसित करना मानते थे जो सभी मान्यताओं , परम्पराओं तथा पूर्वागृहों से ऊपर उठकर स्वंय का मार्ग–दर्शक, और मित्र बनकर सहयोग करता है।

प्रस्तुत अध्ययन द्वारा व्यक्तियों का स्वंय ही विकास होता है जिससे वे स्वंय को संकलित व्यक्तित्व में परिवर्तित कर सकते है। प्रत्येक व्यक्ति अपने मन तथा ह्दय से शुद्वता पाकर सदविचारों को अपने दैनिक व्यवहार में लागू करता है जिससे उसमें मानवीय गुणों का विकास होता है। यहीं मानवीय गुण है। इस प्रकार से उसमें सम्यक बोध, सम्यक दृष्टि का विकास होता है जिससे उसमें दया, करूणा और प्रेम का उदय होता है जो उसको सुख–शांति से जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरित करता है।

प्रस्तुत अध्ययन द्वारा व्यक्तियों में सामूहिकता के भाव की वृद्वि होती है जो प्रत्येक समाज के विकास के लिए आवश्यक है। इस हेतु जे0कृष्णमर्ति आचरण पर बल देते है । आचरण को जब समुचित रूप से जीवन में उतारा जाता है तो वह साधुता बन जाता है। यदि हमारे पास आचरण न हो, विचारशीलता न हो , भावना न हो तो साधुता हमसे दूर चली जाती है। साधुता का आशय मन और ह्दय की मंगलमय अवस्था है जिसको स्थापित करने के लिए अच्छा आचरण आवश्यक होता है। इसी में स्वतंत्रता और अनुशासन का पूर्ण स्वरूप छिपा हुआ है।

आज केन्द्र सरकार ''संविदा सरकार'' के रूप में राष्ट्र की सेवा में तत्पर है। इसके सभी सरकारी सदस्यों द्वारा राष्ट्र का सर्वागीण विकास किया जा रहा है। इस सरकार के सभी सदस्य अपने 'अहंकार' को भूकर, पूर्वाग्रहों को त्याग कर समानता, स्वतंत्रता, भाईचारा तथा दया, ममता और करूणा के साथ कार्य करें तो राष्ट्र का समुचित विकास हो सकेगा।

आपके अध्ययन की सबसे बड़ी उपादेयता प्रत्येक व्यक्ति में प्रेम तथा सौन्दर्य मूल्य को स्थापित करना भी है। आपने सभी को समान महत्व दिया है। तुलना के द्वारा हम मानव जाति को बॉटते है। आज के संसार में आतंकवाद इसी लिये फैल रहा है कि हमने आपसी प्रेम व सौन्दर्य को सीमा में बांध दिया है। वास्तविकता , में अस्तित्व में हम सभी समान है , अतः प्रेम में वहिष्कार नहीं होता और न किसी भी प्रकार द्वेषभाव। आप सभी में मॉ जैसे प्रेम की आकांक्षा करते है, जो सभी बच्चों में समानता देखती है और सभी को समान महत्व देती है।

अमेरिका के राष्ट्रपति जान एफ0कैनेडी कहा करते थे कि संसार में तब तक शांति स्थापना नहीं हो सकती , जब तक मानव हृदय में शांति स्थापित नहीं हो जाती है। आज की मानवीय विषमताओं –पर्यावरण, धार्मिक उन्माद, जनसंख्या, कट्टर राष्ट्रवाद आदि के रूप में ज्वलंत है। इनका समाधान आपके चिन्तन की सार्थकता से ही सम्भव हो सकता है। अतः जे0कृष्णमूर्ति जी का चिन्तन, दृष्टिकोण, बेबाक शैली तथा मानव प्रेम हमें शांति तथा आनन्द प्रदान करता है।

जे0कृष्णमूर्ति ने विज्ञान के सतत् बढ़ते हुए चरण के युग में जन्म लिया था। आज मानवता वैज्ञानिक निधि से ओत प्रोत है ; लेकिन धर्म और नैतिकता अपने पराभव को प्राप्त है, जिसे नया जीवन प्रदान करने के लिए जे0कृष्णमूर्ति ने इहलोकवादी व्याख्या की है। आज पारमार्थिक प्रश्नों के समाधान में न उलझते हुए मानव जीवन को सही दिशा प्रदान करने में वैज्ञानिक मानसिकता अपनाये हुए मानव के वर्तमान आचरण पर बल प्रदान किया। यही कारण है कि जे0कृष्णमूर्ति अपने शैक्षिक चिन्तन में परम्परा विरोधी बन रहे है।

अतः इस अध्ययन की यही नवीनता और उपयोगिता होगी कि जे0कृष्णमूर्ति के दार्शनिक चिन्तन में शैक्षिक तत्वों की खोज की जाये और यह देखा जाये कि वर्तमान परिवेश में इसकी क्या संगति है। इस खोज के साथ ही दार्शनिक चिन्तन की ओर मानवीय अनुभूति की यह अवधारणा भी पुष्ट होगी कि परमार्थिक एवं व्यवहारिक सत्य सदैव अटल एवं अपरिवर्तनीय होते है। विचारकों के मत में इनका प्रगटन विविध रूपों, शैलियों और भाषायी परिधानों में हुआ करता है जिसकी पुष्टि उपनिषद की यह युक्ति चरितार्थ करती है कि "एक सद् विप्रा बहुधा बदन्ति" जो एक महान अनुभूत सत्य के रूप में अनादिकाल में प्रतिष्ठित है।

प्रस्तुत अध्ययन की सार्थकता इस तथ्य के उजागर करने में भी स्पष्ट होगी कि आज के भौतिकवादी, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक उन्नति से पीड़ित मानव को दिशा बोध किस प्रकार से जे0कृष्णमूर्ति का शिक्षा दर्शन कर सकेगा। इसके साथ ही यह भी सिद्व हो सकेगा कि किस प्रकार से वैदिक सत्य को नवीन कलेवर में आपने प्रस्तुत किया। जिससे आज के मानव को नई एवं भारतीय

दिशा मिली। इसकी सार्थकता श्रीमद्भागवत् गीता में व्यक्त श्रीकृष्ण जी की वाणी की सत्यता की परिधि में आ जायेगा। उस समय आपका उद्बोधन था कि यह ज्ञान नया नहीं है, वरन आदिकाल में उन्होंने इसे सूर्य को दिया था, परन्तु कालान्तर में यह लुप्त हो गया है।

प्रयुक्त विधि, उपकरण व स्त्रोत

शोध विधि – प्रस्तुत अध्ययन ऐतिहासिक अनुसंधान का एक भाग है। किसी समाज का इतिहास प्रायः वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का आधार होता है। सामाजिक समस्याओं के समाधान में प्रयुक्त वैज्ञानिक विधि की अनुप्रयुक्ति ही ऐतिहासिक अन्वेषण है। ऐतिहासिक विधि के अन्तर्गत अतीत के अनुभवों का अध्ययन किया जाता है तथा इसके द्वारा मानव विचार , व व्यवहार के उन विकास क्रमों की खोज करना है , ताकि उस समय की सामाजिक गतिविधि का आधार क्या रहा? पता चलता है। इस विधि का उद्देश्य शिक्षा सम्बन्धी दार्शनिक विचार धाराओं ,पद्धतियों , आवश्यकताओं तथा आदर्शो की जानकारी उपलब्ध कराना होता है। साथ ही , उनके सन्दर्भ में वर्तमान समय की समस्याओं , शिक्षा क्षेत्र की कठिनाइयों व व्यवस्थाओं आदि का सन्दर्भ निकालना होता है। परिणाम स्वरूप प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य जे0कृष्णमूर्ति जी के शैक्षिक विचारों का वर्तमान की आवश्यकताओं के सन्दर्भ में मूल्यांवन करना है। अतः ऐतिहासिक विधि का प्रयोग समीचीन है। इसके अतिरिक्त वर्णनामक , तुलनात्मक, तत्व , ज्ञान , व मूल्य मीमांसीय अध्ययन विधि का प्रयोग भी किया जायेगा।

शोध उपकरण – प्रस्तुत अध्ययन में उपकरण के रूप में शोधकर्ता अनेक साक्ष्यों , साधनों व अभिलेखों का प्रयोग करेगी। इनके द्वारा प्रापत जानकारी को यथार्थ रूप में जानकर, वर्तमान के परिप्रेक्ष में उपादेयता प्रस्तुत की जायेगी। इस प्रकार से जे0कृष्णमूर्ति जी के सम्बन्ध में दार्शनिकता तथा शैक्षिकता सम्बन्धी तत्वों का विवेचन किया जायेगा ताकि वर्तमान पीढ़ी उससे लाभान्वित हो सकें।

<u>अध्ययन स्त्रोत</u> – प्रस्तुत अध्ययन में ऐतिहासिक विधि के दो प्रमुख स्त्रोतो का प्रयोग किया जा रहा है :–

(1) <u>प्राथमिक स्त्रोत</u> – प्राथमिक स्त्रोत किसी भी ऐतिहासिक अध्ययन के मौलिक व मूल स्त्रोत होते है। यह विषय वस्तु के आधार तथा मूल भण्डार होते है। इनके अन्तर्गत जे0कृष्णमूर्ति के मूल अभिलेख, मौलिक कृतियां, लेखों , पुस्तकों , अभिभाषण ,संवाद , परिसंवाद , सुझाव आदि के अध्ययन को आधार बनाकर मौलिक तथा विशिष्टिताओं का पता लगाया जायेगा।

(2) <u>गौण स्त्रोत</u> :– गौण स्त्रोत को ही अप्रमुख स्त्रोत की संज्ञा भी दी जाती है। इसमें शोधकर्ता द्वारा उन उपकरणों व साधनों को शामिल किया जायेगा जिनका लेखक , दार्शनिक व शिक्षाशास्त्री स्वंय निर्माता नहीं होता है , बल्कि उनके विचारों व दार्शनिक चिन्तनों का वर्णन या लेखन अन्य व्यक्तियों द्वारा किया गया है। अतः शोधकर्ता महान आलोचकों व समालोचको द्वारा जे0कृष्णमूर्ति जी के सम्बन्ध में लिखे गये ग्रन्थों को शामिल करेगी ताकि अध्ययनोपरान्त उन ग्रन्थों की विषय वस्तु, दार्शनिक व्यक्तित्व तथा दर्शन व शिक्षणतत्व आदि को समझकर अन्तर्दृष्टि विकसित कर सके और अपने शोध को पूरा करके , सार्थकता प्रकट कर सके।

अध्ययन का निदर्शन व क्षेत्र

<u>निदर्शन</u> :– ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक शोधां के अन्तर्गत निदर्शन के रूप में जे0कृष्णमूर्ति जी द्वारा लिखित साहित्य तथा अन्य विद्वानों , शोधकर्ताओं द्वारा लिखित तथा अन्वेषित ग्रन्थों तथा साहित्य को शोध कार्य के निदर्शन का आधार बनाया गया है ताकि दार्शनिक के सभी पक्षों एवं तत्वों को स्पष्ट कया जा सके।

<u>क्षेत्र</u> :– जे0कृष्णमूर्ति जी महान क्रान्तिकारी विचारक दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री थे। आपने मानव जीवन के बहुआयामी पहलुओं, समस्याओंपर अपने विचार व्यक्त किये है। उनका साहित्य अत्यन्त

विस्तृत एवं व्यापक है। अतः शोधकर्ता ने प्रस्तुत शोध का क्षेत्र निम्नलिखित बिन्दुओं तक सीमित बनाया है :–

(अ) प्रस्तुत अध्ययन क्षेत्र में शोधकर्ता द्वारा जे0कृष्णमूर्ति जी के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन एवं मूल्यांकन किया जायेगा।

(ब) जे0कृष्णमूर्ति जी के जीवनदर्शन व शिक्षा दर्शन के क्रमिक विकास में तत्कालीन परिस्थितियों का क्या प्रभाव रहा है ? और इस प्रभाव ने इनके विचारों को किस प्रकार प्रभावित व परिवर्तित करने में मुख्य भूमिका प्रस्तुत की है। इस तथ्य की खोज व जांच का प्रयास भी अध्ययन क्षेत्र में आता है।

(स) आपका व्यक्तित्व बहु–आयामी रहा है। अतः जीवन को प्रभावित करने वाले पारिवारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रभाव को क्षेत्र में रखा गया है।

(द) वर्तमान में प्रचलित शिक्षा दर्शनों (प्रकृतिवाद आदर्शवाद और प्रयोजनवाद) के तथ्यों का प्रस्फुटन जे0कृष्णमूर्ति के विचारों में कहां तक विद्यमान है तथा उनका/ प्रभाव आपके दार्शनिक व्यक्तित्व विकास पर कितना परिलक्षित हुआ है ? की खोज भी अध्ययन क्षेत्र में रखी गयी है।

(य) जीवन के मूल्य क्या है? मूल्य जीवन का उपयोग तथा व्यवहार परकता कैसे बताई गयी है। बुद्धि , मन , आत्मा, सत्य , सुन्दर एंव शिव क्या है ? आदि समस्त तथ्यों को व्यवहार परक बनाने का अध्ययन एवं अन्वेषण भी किया जायेगा।

(र) शिक्षा की पुनर्रचना तथा पुनर्गठन सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन आदि की जानकारी तथा तथ्यों की खोज का अध्ययन भी प्रस्तुत अध्ययन क्षेत्र में शामिल है।

(ल) शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, विद्यालय अध्यापक तथा अनुशासन आदि शिक्षा के क्षेत्रों को अध्ययन में समाहित किया गया है।

(ब) जनतंत्रीय सामाजिक प्रणाली वाले राष्ट्र में शिक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिए ? आपके विचार क्या है ? इन तथ्यों की जानकारी भी प्रस्तुत अध्ययन क्षेत्र में समाहित है।

अध्ययन के निष्कर्ष

शोधकर्ता ने अपने अध्ययन के लिये महान दर्शनशास्त्री,क्रान्तिकारी शिक्षा अन्वेषक और प्रवुद्ध विचारक जे0कृष्णमूर्ति जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को चुना है। आपने भारतीय शिक्षादर्शन का विचार एक अनौखी क्रान्ति ऐसे समय में संसार को दी , जब सभी राष्ट्र और मानव समुदाय भौतिकवादी तथा वैज्ञानिक शिक्षा के मुरीद थे। प्रस्तुत शोध कार्य की पूर्ति तभी उपयुक्त हो सकती है जब इसके निष्कर्ष भारतीय मनीषियों के अनुसार वर्तमान के लिए लाभान्वित हो। जे0कृष्णमूर्ति जी से पहले विवेकानन्द, महात्मागांधी, रवीन्द्र नाथ टैगोर तथा महर्षि अरविन्द आदि शिक्षा मनीषियों ने अपने अपने विचार प्रस्तुत किये थे, जिनका प्रभाव आपकी विचार धारा में कहीं न कही परिलक्षित होता है। फिर भी आपने नवीन क्रान्तिकारी तथा सभी मानवों के हित के लिए जिस शिक्षा की रूपरेखा को प्रचलित किया, उसके तथ्यात्मक तथा रचनात्मक निष्कर्षो को प्रस्तुत किया जा रहा है :-

शिक्षा– शिक्षण सम्बन्धी

शिक्षा प्रणाली का आधार उससे अभिप्राय, उद्देश्य, शिक्षक , शिक्षण प्रणाली छात्र/छात्रा आचरण, अनुशासन और शिक्षक अभिभावक सम्बन्ध आदि होते है। इस सन्दर्भ में आपने शिक्षा का मूल अर्थ शक्तियों को भीतर से बाहर लाना यानि बच्चे अपने वंशकम से जो लेकर आये है और वह बीज रूप में उनके अन्दर अविकिसित अवस्था में है, उसका विकास करना है। वर्तमान में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्व कर दिया है कि प्रत्येक बालक अपने माता–पिता की चार पीढ़ियों से अपने को लाभान्वित पाता है। इन पीढ़ियों के किसी भी सदस्य की कोई भी विशेषता उसमें आ सकती है। ये विशेषतायें शारीरिक बनावट बुद्वि, मलप्रवृत्तियां, स्वभाव तथा व्यक्तित्व आदि होते है। इन सबका शिक्षा के द्वारा समृद्ध वातावरण देकर समुचित (स्वाभाविक) रूप से विकास किया जाता है ताकि वह एक अच्छा नागरिक बन सके। इस अर्थ तथा अभिप्राय का समर्थन विवेकानन्द, पैस्टालाजी

अरविन्द तथा महात्मा गांधी आदि चिन्तकों ने भी किया है।

वर्तमान समय में शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य माने जा रहे , जो बच्चों को व्यवसायिक शिक्षा और भौतिकता की दौड़ में उच्चता हासिल करने की शिक्षा देते है। जे0कृष्णमूर्ति जी सम्पूर्ण मानवता के लिए , सांस्कृतिक एक रूपता के लिए तथा समान नागरिक संहिता एवं जीवन विकास के लिये शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ''शास्वत जीवन'' को समझने के लिए शिक्षा का उद्देश्य निश्चित किया है। शाश्वत जीवन को समझना बड़ा ही कठिन कार्य है। इसका विस्तार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापकता लिये हुए है। आपने लिखा है :-

''अज्ञानी वह व्यक्ति नहीं है , जो विद्वान या ज्ञानवान नहीं है , अज्ञानी वे व्यक्ति नहीं है, जो शाश्वत जीवन को नहीं जानते , और इस अववोध के लिए जब विद्वान व्यक्ति पोथियों पर ज्ञान पर, शक्ति पर निर्भर करता है तो वह मूर्ख है। अववोध केवल आत्मज्ञान से आता है, जोकि अपनी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अवधान है। इस प्रकार से शिक्षा का उद्देश्य शाश्वत जीवन को समझना है क्योंकि अस्तित्व अपनी सम्पूर्णता में हम में से प्रत्येक में अंतनिर्हित है।''

मानव को शाश्वत जीवन को समझने के लिए जब हम तैयार करते है तो उसमें वैयक्तिक, सामाजिक, मानवीय तथा राष्ट्रीय सभी प्रकार के वर्तमान शिक्षा के उद्देश्यों का समावेश हो जाता है। आज के शिक्षा उद्देश्यों के कारण ही सम्पूर्ण संसार विकसित, विकासशील और अर्द्धविकसित राष्ट्रों में बट चुका है। परिणाम स्वरूप सभी में महत्वाकांक्षा और प्रतिस्पर्धा का बोल-वाला हो रहा है, जिससे व्यक्ति-व्यक्ति का शत्रु हो रहा है। राष्ट्रों के विभाजन , राष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय आतंकवाद , भय एवं दमन की प्रवृत्तियां विभिन्न बुराईयों को जन्म दे रही है, इस हेतु वर्तमान शिक्षा के उद्देश्य ही उत्तरदायी है। ऐसे समय में प्रत्येक व्यक्ति अपने शाश्वत जीवन को समझने के लिए प्रज्ञा तथा बोध को जाग्रत कर लें, तो संसार की सभी समस्याओं का समाधान स्वतः हो जायेगा।

जे0कृष्णमूर्ति जी ने शिक्षक की भूमिका को अप्रत्यक्ष में महत्वपूर्ण माना है। आज का शिक्षक

ज्ञानवेत्ता कम होता है, राजनेता, व्यवसायी, धर्म परायण आदि रूपों में अधिक दिखलाई देता है। परिणाम स्वरूप शिक्षक और मानवता के बीच एक मनोवैज्ञानिक द्वन्द पैदा हो गया है। यदि शिक्षक पूर्ण है तो वह अज्ञान रूपी अंधकार को उसी प्रकार से दूर करने में समर्थ होता है जैसे घने अंधेरे को एक टिम टिमाता दीपक दूर करता है। इसी प्रकार से समर्थ शिक्षक जिसमें बोधका, प्रज्ञा का, चेतना का , नन्हा सा स्रोत विकसित हो चुका है , बच्चों के व्यक्तित्व को दूषित और पल्लवित करने में समर्थ होता है।

वर्तमान का शिक्षक अपने व्यक्तित्व का विकास वंशानुक्रमीय विशेषताओं , शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा अनुभव और प्रशिक्षण के द्वारा करता है। इस प्रकार से वह बच्चों को समझकर अपने शिक्षण कौशल द्वारा उनके सर्वांगीण विकास में सहयोग करता है। शिक्षक व्यक्तित्व के बारे में एक कहावत प्रसिद्ध है, "शिक्षक जन्म लेता है, बनाया नहीं जा सकता हैं"। वैज्ञानिक तकनीकी और मनोविज्ञान के प्रशिक्षण ने इस कहावत की उपादेयता को गलत सिद्ध कर दिया है। व्यवहार मनोविज्ञानी, "वाटसन" का विश्वास प्रशिक्षण के द्वारा मन चाहा व्यक्तित्व /विकसित करने में था। लकिन जे0कृष्णमूर्ति जी शिक्षक के बाह्य तथा आँतरिक विकास की भूमिका पर जोर देते है। बच्चों को शिक्षा देते समय एक शिक्षक में ऐसी दृष्टि होनी चाहिए जो उनके अन्दर तथा बाह्य की यांत्रिक प्रक्रिया की अपर्याप्तता को जानकर पूर्ण शिक्षा देने का कार्य करें। आपका मानना है कि "शिक्षक के रूप में मेरा सम्बन्ध यदि केवल पुष्पों से है, जिसमें विलक्षण आभा तथा सौन्दर्य है और मैं दक्ष नहीं हूँ तो मुझ में ही त्रुटि है और यदि मेरा सम्बनध गणित की निपुंणता से है और बाह्य सौन्दर्य से नहीं है तो भी मेरी ही त्रुटि है। अतः शिक्षक को दोनो प्रकार की निपुणता को स्वंय में विकसित करना होगा ताकि वह सम्पूर्ण मानवता के प्रति संवेदनशील हो सके और बच्चों में भी संवेदनशीलता तथा प्रज्ञा की गुणवत्ता का विकास कर सके।

शिक्षा–शिक्षण का तृतीय विशेष अंग या पक्ष छात्र होता है, जिसको ज्ञान देना, सिखाना या भविष्य के नागरिक के रूप में तैयार करना होता है। आपने समय समय पर बच्चों से उनके बारे में

ज्ञान के बारे में, शिक्षा के बारे में , चर्चा में की और कुछ प्रश्न उठाये। बालक क्या है? बालक शिक्षित क्यों होना चाहता है? बच्चों को शिक्षा कैसे दी जाये? उनमें अभिनव मानव के गुणों का विकास कैसे किया जाये? आदि। सामान्यतया शिक्षा को स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया न मानकर अपनी परम्पराओं , संस्कृति, धार्मिक एवं प्रचलित मूल्यों के अनुरूप बालकों को एक ढॉचे में ढालने का प्रयास किया जा रहा है, जो वास्तव में सही या उपयुक्त शिक्षा नहीं है। आपके मतानुसार छात्र को शिक्षा के द्वारा ''अभिनव मानव'' बनाया जाये। इसमें संवेदनशीलता, ध्यान की एकाग्रता, सत्य की पहचान, सौन्दर्य का उपभोग, धार्मिक दृष्टिकोण, वैज्ञानिक निरीक्षण, खोजी प्रवृत्ति तथा स्वतंत्रता एवं अनुशासन आदि छात्र व्यक्तित्व की विशेषतायें आती है। आपने शिक्षा संवाद (पृ01) पर लिखा है :–

''शिक्षा के द्वारा बच्चों को वैज्ञानिक अवलोकन का प्रशिक्षण दिया जाये। पुस्तकें जो कह रही है, उसे सुना जाये कि वह सच है या झूठ है। परीक्षा पास करना, पद प्राप्त करना, या समाज में सुस्थित होना ही शिक्षा नहीं है, बल्कि छात्र इस योग्य बने कि पक्षियों की क्रीड़ाओं से आनन्द ले सकें, आकाश को देख सकें, तथा उनके साथ अनुभव कर सके या उनका अपरोक्ष रूप से साक्षात्कार कर सके।''

निष्कषत्मिक रूप में कहा जा सकता है कि बच्चों को शिक्षा के द्वारा एक अभिभव मानव के व्यक्तित्व में पल्लवित करना है ताकि वह सम्पूर्ण संसार और प्रकृति के प्रति संवेदनशील हो सके और स्वंय उन्हीं में से एक महसूस करके ध्यान की एकाग्रता को स्थापित करें। ध्यान की एकाग्रता के अन्तर्गत हमें देखना होता है कि हमारा मन कैसे कार्य करता है? हमारे विचार कैसे हैं? वे किस प्रकार से उत्पन्न होते है और उनका प्रयोजन कैसे पूरा होता है? इस प्रक्रिया का बच्चों में विकास करना ही ध्यान की एकाग्रता है। बच्चों में सत्य को जानने की जिज्ञासा होनी चाहिए। इस हेतु बुद्धि का सही प्रयोग आवश्यक होता है। बुद्धि संवेदनशील, सतर्क एवं सजग होनी चाहिए ताकि स्वस्थ चिंतन की प्रवृत्ति का विकास करने के लिए उसमें वस्तुनिष्ठता का विकास किया जा सके। यही

सतर्कता ,जागृति छात्रों को सत्य का ज्ञान कराती है। इसके साथ ही बच्चों को वास्तविक सौन्दर्य की अनुभूति करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए ताकि वे संसार में फैले पृथ्वी के वृक्षों के, रंग के छायायों के, प्रकाश के तथा पक्षियों के सौन्दर्य का अवलोकन करके अपनी पीड़ा को मिटा सके और वैज्ञानिक निरीक्षण को विकसित करके उस सत्य की खोज कर सके जो अजर और अमर है। जब व्यक्ति के अन्दर धार्मिक भावना तथा वैज्ञानिक मन का विकास होता है, तो उसमें समानता, सहयोग , भाईचारे की भावना का उदय होता है जो सम्पूर्ण मानव जाति व प्राणी मात्र के लिए होता है। इसी के साथ बच्चों में वैज्ञानिक मन का विकास करना चाहिए ताकि वह प्रत्येक वस्तु को वैसा ही देखे जैसे वह वास्तव में होती है। अतः प्रत्येक बच्चे को सत्य का आभास कराना ही, ईश्वर का दर्शन कराना होता है।

बच्चों के विकास में स्वतंत्रता तथा अनुशासन के महत्व पर जे0कृष्णमूर्ति जी ने बहुत बल दिया है। आपने अनुशासन को 'व्यवस्था का नाम दिया है। अनुशासन शब्द में व्यक्ति में आरोपित या नियंत्रित व्यवहार होता है। आज शिक्षा में इस शब्द का अर्थ अनुकूलन, अनुकृति, आज्ञा पालन आदि रूपों में लगाया जाता है। इसकी अपेक्षा यदि छात्र दूसरों का ध्यान रखे , शिक्षक के व्याख्यान को ध्यान से सुने ,समय का पालन करे ,नियमित कक्षा में अध्ययन करे और प्रत्येक क्रिया या व्यवहार सही ढंग से करें तो यही व्यवस्था है जो स्वनिर्मित और स्वविकसित होती है। इसी से स्व अनुशासन का जन्म होता है, जो स्वतंत्रता को जन्म देता है। स्वतंत्रता में ही अच्छाई , प्रेम और प्रज्ञा का प्रस्फुटन होता है। आपने लिखा है कि :-

''स्वतंत्रता के लिये अत्यधिक सम्यक बुद्धि की, संवेदनशीलता, और अवबोध की आवश्यकता होती है और फिर भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य चाहे वह किसी भी संस्कृति का क्यों न हो स्वतंत्र हो। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि स्वतंत्रता बिना व्यवस्था नहीं हो सकती है। इसी का अनुमोदन महान शिक्षा-शास्त्री''रूसों'' ने अपनी पुस्तक ''एमील'' में निम्न प्रकार से किया है :-

ईश्वर सभी वस्तुओं को अच्छी बनाता है परन्तु वे मनुष्य के हाथो में पड़कर बुरी हो जाती है।... .. वह हेय एवं कूरूप से प्यार करता है वह मनुष्य को भी स्वाभाविक रूप से विकसित नहीं होने देता। अतः बालक की स्वतंत्रता और अनुशासन स्वनिर्मित होना चाहिए।"

अतः शोधकर्ती अनुशासन और स्वतंत्रता को बालक के विकास के लिये अनिवार्य मानती है। जिसका स्वाभाविक विकास बच्चों में सम्यक बुद्धि, अवबोध और संवेदनशीलता के द्वारा ही किया जा सकता है। एक स्वतंत्र तथा अनुशासित व्यक्ति अन्य से बिल्कुल भिन्न होता है। समाज या तो उसकी पूजा करता है या उसे दुत्कार देता है। स्वतंत्रता निष्प्रयोजन होती है। उससे किसी को न लाभ होता है और न हानि । इसी को प्रेम की अवस्था भी माना गया है।

सामान्य निष्कर्ष

जे0कृष्णमूर्ति जी 20 सदी के विस्फोटक विचारक रहे है। उन्हें सीमा में बांधना, उनके विचारों की अवहेलना करना होगा। आपने शिक्षा क्षेत्र के अलावा अन्य क्षेत्रों में भी शिक्षा द्वारा ही योगदान दिया गया है, जिसका शोधकर्ती द्वारा निष्कर्षात्मक स्वरूप निम्न प्रकार से प्रस्तुत है:--

आपने अपने अनुभवों को युगदृष्टा, चिन्तक तथा मानवीय संवेदना के आधार पर व्यक्त किया है। इसीलिए व्यक्ति की मौलिकता की अनुभूत आपने शिक्षा के क्षेत्र में लागू की। व्यक्ति की मौलिकता या स्वाभाविक विकास जिस पर महान शिक्षा--शास्त्री रूसों , पैस्टालाजी ,टी0पी0 नन आदि ने तथा वर्तमान के महत्मागांधी, टैगोर, अरविन्द आदि ने विशेष बल दिया है। आपने मौलिकता के विकास को अनौखा या व्यक्तिगत बताया है जिस पर हमें स्वंय ही चलना है, किसी का सहारा लिये बगैर , क्योंकि मानव की समस्त प्राचीन अवधारणायें और संस्कार उसकी मौलिकता को निश्चित रूप प्रदान करती है जो उसका न होकर समाज का होता है। जब व्यक्ति संस्कारों , आस्थाओं और मान्यताओं से मुकत होकर नवीन सोच, परिस्थिति, संस्कृति, तथा मूल्यों का सृजन करेगा तो वही अपने को समग्र तथा अभिनव या मौलिक मानव के रूप में तैयार कर सकेगा। इस विकास में शिक्षा का प्रत्यक्ष सहयोग अवलोकन शक्ति के विकास के रूप में होना चाहिए जो व्यक्ति, वस्तु, विचार,

स्थिति आदि का यथार्थ ज्ञान हासिल कर सकें। इस परिवर्तन के द्वारा ही वह वर्तमान संस्कारों, आदर्शों और मिली–जुली संस्कृति से मुक्त होकर मौलिक परिवर्तन का रचनात्मक क्षेत्र में क्रियान्वन करेगा।

मानव मात्र का विकास यथार्थवादी सोच, दृष्टिकोण के द्वारा विकसित होना चाहिए। जे0कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि हमें प्रत्येक समस्या, वस्तु या परिस्थिति का ज्ञान उसके यथार्थ स्वरूप में करना चाहिए। इसी आधार पर आपने अपने विचारों को यथार्थवादी दर्शन का नाम दिया है, जिसके तहत जीवन की सभी समस्यायों का निदान आसानी से हो जाता हैं यथार्थवादी दर्शन के आधार स्वरूप सत्य का ज्ञान, आत्मबोध, प्रज्ञा और स्वतंत्रता तथा व्यवस्था आदि को व्यक्ति अपनाये तो वह जीवन की शाश्वता, निभ्रम, निर्भय ,होकर समस्या मुक्त होगा और सज़ग तथा परमानन्द को प्राप्त करेगा। उसके दृष्टिकोण में एकता, सार्वमौमिकता सहयोग, प्रेम, स्वतंत्रता ,समानता, अंहिसा एवं सत्य जैसे उत्कृष्ट मूल्यों का सहज विकास हो सकेगा, जो मानवता के लिये अर्ह होते है।

जे0कृष्णमूर्ति जी के विचार किसी व्यक्ति, समाज, जाति सम्प्रदाय या राष्ट्र की सीमाओं में कैद नहीं है , 'बल्कि वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से ओत प्रोत है। वे स्वंय को भारत का, थियोसोफिकल सोसायटी का नागरिक न मानकर अन्तर्राष्ट्रीय मानवीयता का नागरिक मानते है। इसी लिए वे विश्वशांति की स्थापना के लिए सार्वभौमिक ह्दय की गहराई को मानवीय संवेदना के स्तर पर, स्वंतत्रता, समानता , भाईचारा, समान , न्याय पद्वति, समान नागरिकता आदि मानवीय विचारों को महत्व देते हैं इस प्रकार से सभी में अलगाव के स्थान पर एकता, सहयोग का भाव तथा मानव मात्र के प्रति संवेदना प्रगट हो सकेंगी जिनका वर्तमान राजनीति में अभाव है और संसार से हमेशा के लिए युद्व , क्रान्ति अलगाववाद समाप्त होकर प्रत्येक के हृदय में शांति की स्थापना होगी।

मानव मात्र को भौतिक भाव से ऊपर उठकर सत्य की अनुभूति के प्रति जागरूक होना चाहिए ताकि वह जान सके कि "सत्य ही भगवान" हैं इस भावना का विकास व्यक्ति को सभी

प्रकार के भ्रमों से , अंधविश्वासों से , संघर्षो से, और संस्कारों के प्रभावों से मुक्त करके परमानन्द का आनन्द प्रदान करेगा। इस प्रकार का सोच न केवल शिक्षा धर्म प्रशासन, संस्कृति के विकास में सहायक होता है बल्कि जीवन के प्रत्येक पक्ष के विकास में उपयोगी सहायक होगा। जैसाकि महत्मागांधी ने सत्य और अंहिसा के मार्ग पर चलकर सम्पूर्ण मानवता का हित किया ,सर्वविदित है। रोहित मेहता ने लिखा है कि "कृष्णमूर्ति जी वर्तमान समय के एक मौलिक एवं क्रान्तिकारी विचारक है। उन्होंने एक अनोखे दर्शन (शिक्षा) का विकास किया है। उनके दर्शन की एक विशिष्टिता है– चुनाव रहित सजग चेतना। उनका कहना है कि जीवन की किसी भी समस्या को होशपूर्वक देखों और मुक्त होओ। इसीलिए जब वे किसी को आर्शीवाद देते थे तो सत्य बोलते थे और कहते थे कि जो आपके लिये अच्छा हो वही हो। यानि आपके लिये जीना अच्छा हो तो आप जियें और मृत्यु अच्छी हो तो मृत्यु के प्राप्त करें।" इस प्रकार से बिना लगाव के दार्शनिक ही अपने विचार को सत्य रूप में व्यक्त कर सकता है। यही सत्य की अनुभूति है और ईश्वर को जानना है।

वर्तमान सोच ने शिक्षा को समाज और प्रशासनिक बंधनों में जकड़ दिया है जो निश्चित किये गये दायरे में दी जाती है और उससे निकलने को फड़फड़ाती है। परिणाम स्वरूप मानव समाज ने संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष–भाव आक्रमण और मोह–माया आदि में स्वंय को फसा लिया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति से मानव समाज तृस्त हो चुका है। इससे बचने के लिए जे0कृष्णमूर्ति जी एक ही रास्ता बतलाते है जो है– समाज के बनावटी सोच में परिवर्तन लाना ताकि प्रत्येक सदस्य में नवजीवन और नवशक्ति का संचार होकर "स्व" का प्रस्फुटन हो सके। यही "स्व" सभी में समान रूप से बैठा हुआ है जो किसी संस्कार ,रिवाज़ , परम्परा, आदर्श को नहीं मानता है बल्कि सजगता के साथ निरीक्षण करके स्वंय की प्रज्ञा का विकास करते है। जब सभी में स्व, प्रज्ञा, तथा आत्मज्ञान का विकास हो जायेगा तो एक अभिनव मानव का विकास होगा। यही अभिनव मानव मिलकर एक मानव समाज का निर्माण करेगें जिसमें किसी भी प्रकार की अशांति , द्वेषभाव और असमानता नहीं होगी, बिल्क सभी परमानन्द जीवन का आनन्द प्राप्त करते हुए नये संसार का सुख प्राप्त या भोग सकते है।

ऐसा माना गया है कि व्यक्ति जन्म से धार्मिक होता है। प्रत्येक समाज अपने उत्तराधिकारियों को धार्मिक भावना का प्रारम्भ से ही प्रशिक्षण देते है। लेकिन जे0कृष्णमूर्ति जी ने संसार के सभी धर्मो का विरोध किया है। उनका कथन है कि प्रचलित धार्मिक परम्परा व्यक्तिके मन को पतिबद्व कर देता है , क्योंकि इनमें विचार, अंध भक्ति, अंधविश्वास , रूढ़िया, आडम्बर, दिखाबा, बनावटीपन भरा हुआ है। सभी धर्मो का अपना संगठन है, साहित्य है, पुजारी तथा अनुयायी होते है। ये धर्म के ठेकेदार बनकर व्यक्तियों को भयभीत करके, धमकाकर और प्रलोभन देकर अनुयायी बनने को विवश करते है। ये लोग अपने अपने तरीके से स्वर्ग और नरक की परिकल्पनायें करते है , ताकि लोग इनसे जुड़कर इनका सम्मान व मान करते रहे। यद्यपि सभी धर्म यही दावा करते है कि उनका धर्म ही श्रेष्ठ है और वह ईश्वर की वाणी बोलता है। हमारा धर्म ही सच्चा, भाईचारे वाला, करूणा फैलाने वाला और मानवीय गुणों को व्यक्त करने वाला है।

जे0कृष्णमूर्ति जी मानते हे कि धर्म सभी के लिये सुलभ है और प्रत्येक व्यक्ति उसे आसानी से प्राप्त कर सकता है। जब हम स्वचेतना से मुक्त होकर समिष्ट में प्रवेश करते है तो हमारे सभी द्वैत भाव मिट जाते है और हम स्वंय को सत्य में स्थापित करने में सफल होते है जो सही धर्म है। अतः शोधार्थिनी धर्म के बारे में निम्न निष्कर्ष पाती है :-

1. धर्म ही सत्य है और सत्य ही ईश्वर है जिसने इस संसार को बनाया तथा पालन-पोषण करता है और इसमें परिवर्तन लाता है।
2. सभी मनुष्यों के साथ प्रतिबद्व होना, भाई-चारा स्थापित करना, समानता, स्वतंत्रता और आदर-सम्मान देना आदि ही धार्मिकता है जिससे सभी में एकीकरण का भाव पैदा होता है।
3. स्वचेतना से विलग होकर समिष्ट के साथ एकाकार करना ही धर्म है जिससे "वसुधैव कुटुम्बकम् " की भावना को बल मिलता है।
4. धर्म कोई कर्मकाण्ड, या पूजा करने की प्रक्रिया नहीं है बल्कि मानवता के प्रति गहरी समझ तथा निरीक्षण का विकास करना है, ताकि यथार्थ को जाना जा सके।

5. धर्म कोई मोक्ष या मुक्ति नहीं होता है बल्कि संसार की प्रत्येक वस्तु को उसके यथार्थ में जानना और उनके पार चले जाना है इस भाव के प्रगट होने मात्र से आशक्ति समाप्त हो जाती है और परमानन्द आ जाता है, वही धर्म है।

शिक्षा के द्वारा छात्र का सर्वागीण विकास किया जाना चाहिए। ताकि वह अच्छा मनुष्य बन सकें। इस हेतु जे0कृष्णमूर्ति जी ने अपनी शिक्षा के द्वारा "अभिनव मानव" के विकास का सुझाव दिया है। इस हेतु हमें निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए :–

1. शिक्षा के द्वारा प्रत्येक बच्चे को संवेदनशील बनाया जाये ताकि वह सभी के सुख–दुःख का भागी बनकर शांत मन से अपनी प्रज्ञा शक्ति का विकास कर सकें। संवेदनशील बनने के लिए बच्चों को भौतिक जगत का निरीक्षण करना चाहिए फिर मन की एकाग्रता को ध्यान के द्वारा स्थापित करना चाहिए, फिर अपनी बुद्धि का सकारात्मक प्रयोग करना चाहिए। इसके पश्चात बच्चों में प्रज्ञा का विकास हो सकता है।

2. अभिनव मानव का विकास सत्य के ज्ञान के बिना अधूरा होता है। अतः शिक्षा के द्वारा बच्चों को सत्य की अनुभूति के योग्य बनाया जाये ताकि वे सत्य के द्वारा ईश्वर तथा उसके अपरिमित संसार को जान सके। आज के भौतिकवाद ने लोगों को नास्तिक बना दिया है, जो मानव जाति के विकास में बाधक है। यदि थोड़े से शिक्षक भी इस बात को समझकर बच्चों को शिक्षित करें तो आने वाली एक नवीन शिक्षा का निर्माण हम करने में समर्थ होगें।

3. शिक्षा के द्वारा बच्चों के विकास में सौन्दर्यानुभूति का विशेष महत्व है। सौन्दर्यानुभूति से तात्पर्य प्रत्येक क्षेत्र में सुन्दरता का विकास करना। जे0कृष्णमूर्ति जी का विश्वास है कि जब "स्व" नहीं होता है तो सौन्दर्य होता है। जहां आप अपनी समस्याओं , परम्पराओं और जिम्मेदारियों के साथ नहीं होते है तब सौन्दर्य की अनुभूति होती है। अतः शिक्षा के द्वारा बच्चों में सौन्दर्य के प्रति रूचि, और अनुभव करने की क्षमता का विकास भी होगा।

4. वैज्ञानिक मन या सोच प्रत्येक ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण क्रमबद्वता और प्रयोग के द्वारा करता है।

जब शिक्षा के द्वारा अभिनव व्यक्तित्व का विकास किया जाता है तो उसके मन को वैज्ञानिक सोच में विकसित किया जाये । साथ ही उसमें गहरी और यथार्थ निरीक्षण प्रवृत्ति का विकास किया जाये, ताकि वह जिस ज्ञान की अनुभूति कर रहा है वह सार्थक होनी चाहिए।

5. शिक्षा के द्वारा बच्चों में जिज्ञासा की प्रवृत्ति का विकास इस तरीके से किया जाये जिससे वह संसार की वास्तविकता को खोज सकें। अतः शिक्षा से सम्बन्धित व्यक्ति बच्चों को संतुष्ट न होने दें, बल्कि उसको प्रेरित करते रहे ताकि वह अधिक से अधिक खोज में लगा रहे। यही खोजी प्रवृत्ति बच्चों में सक्रियता, स्फूर्ति और सृजनशीलता का विकास करती है।

6. अभिनव व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वतंत्रता तथा अनुशासन को आवश्यक माना जाये। शिक्षा के द्वारा बच्चे कैसे स्वतंत्र तथा व्यवस्थित रह सकते है? इस सन्दर्भ में जे0कृष्णमूर्ति जी का मत है कि अपनी आंतरिक पराधीनता को जब हम समझ लेते है और उसकी लिप्तता से स्वंय को मुक्त कर लेते , तब हम स्वतंत्रत होते हे। इसी प्रकार से जीवन के प्रत्येक कार्य को सही ढंग से करते रहना और जीवन की विसंगतियों से बचते रहना /ही वास्तविक अनुशासन होता है।

जे0कृष्णमूर्ति जी ने अपने शिक्षा दर्शन में कुछ ऐसे तत्वों पर भी प्रकाश डाला है जो भौतिकवादी जीवन को सही रूप से जीने में सहायक होते है। वे सभी तत्व व्यक्ति के दैनिक जीवन और व्यवहार को सही पथ पर चलने की प्रेरणा देते है। उन तथ्वों के निष्कर्षो को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा रहा है :–

1. शिक्षा के द्वारा बच्चों को आत्मज्ञान देने का प्रयास करना चाहिए। व्यक्ति एक साथ भौतिक जगत और आंतरिक जगत दोनो का उपभोग करता है। आंतरिक जगत का निर्माण जीवन के विभिन्न अनुभवों के संग्रहण से होता है जो "स्व" कहलाता है। इसको जानना ही आतमज्ञान होता है। अतः प्रत्येक बच्चों को आत्मज्ञान दिया जाये ताकि वह स्वंय के सही स्वरूप के बारे में जान सके, क्योंकि आत्मज्ञान का अभाव उसके व्यक्तित्व विकास में बाधक होता है।

2. शिक्षा के द्वारा इस संसार और उसके समस्त प्राणियों को बनाने वाला कौन, क्या, तथा कैसे आदि रूपों है सभी बच्चों को सही ज्ञान दिया जाये ताकि साम्प्रदायिक वैमनस्य को संसार से विलुप्त करके आनन्द को प्राप्त करें। आपने ईश्वर की वर्तमान धारणा को अमान्य न मानकर सरल किया है। वे ईश्वर को सत्य मानते है जो प्रत्येक स्थान पर फैला हुआ है , उसको देखने की एक दृष्टि चाहिए। ईश्वर कभी भी दृश्य नहीं बन सकता वह तो परम मौन की अवस्था में स्वंय ही उपस्थित हो जाता है जैसे वायु को हम मुट्टी में नहीं पकड़ कर रख सकते , वैसे ही ईश्वर को हम पकड़ कर एक स्थान पर नहीं बिठा सकते।

3. शिक्षा के द्वारा बच्चों में ज्ञान भण्डार की वृद्धि और अपनी प्रज्ञा शक्ति के विकास के लिए तैयार करना चाहिए ताकि वे सांसारिक भाव से निकलकर आत्मज्ञान के भाव में जीवन–यापन कर सकें। मानव द्वारा स्थापित विचार तथा कल्पनाओं का समूह ही ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होता है। संसार का प्रत्येक व्यक्ति अपने द्वारा और दूसरों का अनुसरण करके कुछ न कुछ सीखता है और इन्हीं का एकत्रीकरण अनुभव संग्रह होता है। इसी अनुभव संग्रह को ज्ञान का नाम दिया जाता है। लेकिन जब हम अपनी संवेदनशीलता और चुनाव रहित सजगता से किसी घटना को उसकी सम्पूर्णता में देखते है तो यह अवलोकन ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जो प्रज्ञा को जन्म देता है। इस प्रकार से प्राप्त किया गया ज्ञान प्रज्ञा का एक उपकरण मात्र है जिससे हम अपनी प्रज्ञा का विकास करते है जो हमें सही निरीक्षण करने की यथार्थ की पहचान करनें की और परमानन्द की शक्ति जानने की क्षमता प्राप्त होती है।

4. आज समस्त भूमण्डल विभिन्न समस्यायों के हल के प्रति जागरूक तथा सक्रिय है। जे0कृष्णमूर्ति जी ने इसमें जनसंख्या वृद्धि को भी एक मुख्य कारण माना है। आज सभी सरकारें जनसंख्या शिक्षा का प्रसार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कर रही है , फिर भी समस्या पर नियंत्रण नहीं हो पा रहा है। अतः जे0कृष्णमूर्ति जी द्वारा बृह्मचर्य के प्रत्यय को

शिक्षा में लागू किया जाये तो जनसंख्या वृद्धि एवं नियंत्रण में सहायता प्राप्त हो सकती है। आप काम वासना को व्यक्ति की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकता मानते है उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। शिक्षा के द्वारा बच्चों को समझाया जाये कि काम वासन कोई क्रिया नहीं है बल्कि एक विचार है जो हमारी समस्या बना हुआ है। अतः इस समस्या का निदान तभी होगा जब विचारकर्ता ही समाप्त हो जाये। अतः वास्तविक वृह्मचर्य में मन में काम भावना का दमन नहीं होता है अपितु विचारकर्ता के भाव समाप्ति का परिणाम है। इस भाव की शिक्षा या सोच सर्जनशील होता है और मानव को सुखी एवं आनन्दित भी करता है।

5. शिक्षा के द्वारा बच्चों में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास विश्व शांति एवं कल्याण के लिए होना चाहिए। आज संयुक्त राष्ट्र संघ इस कार्य को सही ढंग से पूरा करने में पक्षपात कर रहा है। अतः जे0कृष्णमूर्ति जी के विचार से प्रतियोगी स्वभाव, अविश्वास, प्रथक्करण की नीति, नेताओं के स्वार्थ, धर्मान्धता आदि कारणों से विश्व में अशांति फैल रही है। हम शिक्षा के द्वारा और शिक्षकों की सहायता से बच्चों में मौलिक परिवर्तन लाये ताकि वें प्रत्येक प्राणी के प्रति सम्पयक भाव, सम्यक जीवन, सम्यक शिक्षा तथा सम्यक जीविकोपार्जन आदि के भाव को जागृत कर सकें। ये भाव तभी जागृत किये जा सकते है जब बच्चों में शिक्षा के द्वारा प्रेम, करूणा, दया और विनम्रता का विकास हो। हम अपने को समझे और जीवन को सुखमय विवेकमय और प्रेममय बनाते हुए नवीन मानव समाज का नवनिर्माण करें, तभी शांति की कामना की जा सकती है।

वर्तमान शिक्षा विभाग हेतु सुझाव

प्रत्येक राष्ट्र के शिक्षा विभागों का कार्य वर्तमान शिक्षा प्रणाली की नीति को निर्धारित करना, जिससे वर्तमान की समस्याओं का निराकरण हो और भावी पीढ़ी अपनी मानसिक आवश्यकता को संतुष्ट कर सके। इसके लिये शिक्षा विभाग को वद्वतवर्ग और विशेषज्ञों की एक समित बनानी होती

है जो अपने अध्ययन से शिक्षा की नीति का निर्धारण करती है और सरकार उसको देश के विद्यालयों में लागू करती है। अतः शोधकर्ती ने इस अध्ययन से कुछ शैक्षिक सार्थकता ज्ञात की है जिसका पालन शिक्षा विभाग द्वारा किया जा सकता है :—

1. शिक्षा की नीति के निर्धारक भारतीय शिक्षा पद्धति और दर्शन को जानने वाले हो, विशुद्ध निरीक्षण करने वाले हो, प्रज्ञावान हो, उनके ह्दय में कल्याण के भाव हो, वे खोजी स्वभाव के हो और प्रत्येक प्रकार के भय, प्रतिस्पर्धा और लगाव से मुक्त हो।

2. शिक्षा का प्रमुख स्तम्भ शिक्षक होता है। उसका निर्माण करना, प्रशिक्षण करना सरकारी विभाग का कार्य होना चाहिए जिससे उसकी ऑतरिक शक्तियों का विकास तथा परिमार्जन इस प्रकार से किया जाये ताकि वह अपने में प्रज्ञा खोजी प्रवृत्ति, ध्यान सजग निरीक्षण का विकास कर सके। इस प्रकार से जो शिक्षक तैयार होगा वह पूर्ण मानव होगा और अद्वैत में विश्वास करने वाला होगा। ऐसा ही शिक्षक सही रूप से बच्चों को शिक्षा देने में समर्थ हो सकता है।

3. अपने नागरिकों को शिक्षित करने के लिए शिक्षा विभाग को ऐसा पाठ्यक्रम या ज्ञान का समूह एकत्रित करना चाहिए जो भौतिक ज्ञान भी दें और आत्म ज्ञान के विकास में भी सहायक हो। दोनो के सामंजस्य से ही बच्चों का विकास सही रूप से बन सकेगा।

4. बच्चों का स्वाभाविक विकास किया जाये। उनपर किसी परम्परागत शिक्षा को थोपा न जाय उनके स्वाभाविक विकास के लिए विद्यालय का पर्यावरण साधन सम्पन्न और प्राकृतिक होना चाहिए, जिसमें सभी बच्चे अपने अन्दर सौन्दर्य की अनुभूति स्थापित कर सकें। जब उनमें सौन्दर्यानुभूति के भाव का विकास होगा तो वे अपने अन्दर प्रेम की अनुभूति कर सकेंगे, और यही प्रेम उनका तादात्म, समिष्ट के साथ कराने में सफल होगा। इस भाव से ओत–प्रोत बच्चें सभी में और सर्वत्र स्वंय को महसूस करने लगते है और उनमें प्राणी मात्र के लिए समानता, स्वतंत्रता , भाईचारा, करूणा, दया आदि भाव जाग्रत हो जायेगें, जिनकी आज के

संसार को नितान्त आवश्यकता है।

5. बच्चों में शिक्षा के द्वारा व्यवस्थित जीवन जीने की आदत का विकास करना चाहिए जिससे वे अनुशासन को अपनाकर स्वाभाविक विकास कर सकें। यह अनुशासन प्रभावात्मक होना चाहिए ना कि दण्डात्मक। अतः बच्चों की नैसर्गिक शक्तियों के विकास के लिए अनुशासन और स्वतंत्रता की सही व्यवस्था होनी चाहिए । यह व्यवस्था अनुकरणीय होनी चाहिए, जिससे सम्पूर्ण मानव समाज एक अपूर्ण ऊर्जा के साथ ओत–प्रोत होकर राष्ट्र के विकास में सकारात्मक सहयोग दे सकें।

6. शिक्षा के द्वारा बच्चों में नैतिक शिक्षा आदर्श तथा नैतिक मूल्यों का विकास करना भी अनिवार्य है, जिससे प्रत्येक बच्चा प्रत्येक व्यक्ति, समाज , सम्प्रदाय, धर्म और आध्यात्म का आदर व सम्मान करना सीख सके। आज संसार में भिन्नता के स्थान पर एकता की आवश्यकता है जो सही नैतिकता की शिक्षा के द्वारा सम्भव हो सकती है।

7. आज संसार में शांति स्थापना हेतु जो प्रयास हो रहे है, वे स्वार्थ से भरे हुए है। इसके लिए शिक्षा के द्वारा बच्चों में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास होंना चाहिए। इस भाव के विकास के लिए शिक्षकों के प्रयत्न , पाठ्यक्रम में पाठो का समहित होना, गोष्ठियों का आयोजन , पाठ्य सहगामी क्रियाओं तथा अन्य क्रियाओं का आयोजन होना चाहिए, जिससे प्रत्येक बच्चा अपनत्व, प्रेम, संवेदना आदि को समझ सके और स्वंय को एक राष्ट्र ,जाति, धर्म का नागरिक न मानकर संसार का नागरिक मानें। इस प्रकार से प्रत्ये क बच्चा अकेला महसूस न करकें, समिष्ट का एक हिस्सा मान सकेगा। यही भाव संसार से युद्व , आतंक, द्वेष– ईर्ष्या और धार्मिक आडम्बरों को दूर करने में समर्थ होगा।

8. शिक्षा प्रदान करने के लिए व्यक्तियों के मन में उत्सुकता हो जिससे वे वर्तमान की सबसे बड़ी समस्या " जनसंख्या शिक्षा" की विकरालता को समझ सकें, और विभिन्न प्रकार के सकारात्मक कार्यक्रमों को इस प्रकार से क्रियान्वित करें जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर जनसंख्या, नियंत्रण, विकास एवं सद्पयोग को अपना सके। इस हेतु प्रस्तुत शोध के

निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत है :--

(अ) भारत देश के लिये बृह्मचर्य शब्द का प्रयोग आदि काल से चला आ रहा है। अतः इस शब्द की सही और सामयिक परिभाषा, उपयोग तथा कियान्वयन प्रस्तुत किया जाये।

(ब) जनसंख्या का नियंत्रण करने के लिए सरकार, सामाजिक संस्थाओं को मिलकर प्रयास करना चाहिए ताकि यौन शिक्षा का वासनामय रूप पुस्तकों पत्रिकायों , चलचित्रों, और दूरदर्शन के द्वारा जनता को न परोसा जाये।

(स) चलचित्र, दूरदर्शन और फैशन प्रदर्शनों का फूहडता युक्त प्रदर्शन बन्द हो, ताकि स्त्री जाति को देवी का सम्मान मिल सके। लोगों के मन से स्त्री के प्रति भोग और वासना की सोच निकल सके। इस हेतु प्रत्येक क्षेत्र में समानता के अधिकार और समान नागरिकता प्रशासन के द्वारा कढ़ाई के साथ लागू किया जाये। साथ ही उनके सम्मान के कार्यकम चलाये जाये।

(द) जनसंख्या शिक्षा के द्वारा लकडा–लडकी में भेद–स्थापित करने की भावना को समाप्त किया जाये ताकि लड़कियों को आबादी में आने वाली गिरावट समाप्त हो, और उनको वैदिक कालीन मान्यता मिल सके।

(य) जनसंख्या शिक्षा का विद्यालयों में पढ़ाना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि व्यवहार में ऐसे कार्यकम प्रचलित हो जो स्त्री की नग्नता को , वासना को न दिखाकर उसकी विभिन्न क्षेत्रों में आवश्यकता का प्रदर्शन करें।

(र) जनसंख्या वृद्धि का तात्पर्य परिवार की अधिक वृद्धि करना नही है बल्कि उतनी वृद्धि करना है जिससे हम बच्चों का बढ़िया पालन पोषण करके अच्छा नागरिक बना सके इस भाव को जन साधारण में फैलाना है।

शोधकर्ताओं हेतु सुझाव

वर्तमान अध्ययन के द्वारा शोधकर्ती ने जे0कृष्णमूर्ति जी की शिक्षा के प्रति अपूर्व दृष्टिकोण का विश्लेषण प्रस्तुत किया है ताकि वर्तमान समय का भौतिकवादी दृष्टिकोण, आतंकवादी सोच तथा

आपसी प्रतिस्पर्धा आदि समाप्त होकर सिर्फ मानवीय गुणों का विकास सम्भव बनाया जा सके। इस अध्ययन ने अपने अन्दर उत्पन्न कुछ प्रश्नों को प्रगट किया है जिस हेतु उपयुक्त उत्तरों की आवश्यकता है ताकि प्रस्तुत शोध के क्षेत्र का अधिक विस्तार हो सकेगा और साथ ही साथ भविष्य के परिवर्तित शिक्षा प्रणाली में नया दौर का प्रारम्भ हो सकेगा :–

1. जे0कृष्णमूर्ति जी की शैक्षिक विचारधारा की तुलना अन्य शिक्षा शास्त्रियों की शैक्षिक विचारधारा के साथ की जा सकती है।
2. जे0कृष्णमूर्ति जी के मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक चिन्तन की सार्वभौमिकता एवं उसके प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है।
3. जे0कृष्णमूर्ति ने जिन मानवीय मूल्यों को संरक्षण प्रदान किया और जनतंत्रीय समाज के मूल्यों में क्या समरूपता है, का अध्ययन किया जा सकता है।
4. संसार में फैले वे शिक्षा के केन्द्र जो जे0कृष्णमूर्ति जी की शिक्षा नीति पर चल रहे है उनका वर्तमान शिक्षा प्रणाली के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।
5. जे0कृष्णमूर्ति के दार्शनिक पक्ष का अन्य भारतीय तथा विदेशी दर्शन शास्त्रियों के दार्शनिक पक्ष के साथ तुलना की जा सकती है।
6. जे0कृष्णमूर्ति जी ने थियोसोफिकल सोसायटी संगठन पर क्या प्रभाव डाला जिससे वे अपने समायोजन की स्थापना नहीं कर पाये, की समस्यायों का अध्ययन किया जा सकता है।
7. प्रशिक्षणरत शिक्षक छात्र/छात्रा व्यक्तित्व विशेषतायें तथा प्रतिमानों का अध्ययन जे0कृष्णमूर्ति जी के शिक्षा दर्शन के आधार पर किया जा सकता है।
8. जे0कृष्णमूर्ति जी की ध्यान की पद्वति का योग शिक्षा पर प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है।
9. जे0कृष्णमूर्ति जी के शैक्षिक विचारों का सृजन–शक्ति के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है, अध्ययन किया जा सकता है।

10. जे0कृष्णमूर्ति जी क "काम शिक्षा" सम्बन्धी विचारों का जनसंख्या शिक्षा पर क्या प्रभाव हो सकता है, का अध्ययन किया जा सकता है।

11. सामाजिक आर्थिक स्तर को मुख्य परिवर्ती मानकर स्वतंत्र रूप से अध्यापक लक्षणों के विकास का अध्ययन किया जा सकता है।

12. वर्तमान में फैली निरक्षरता को दूर करने में साक्षरता की समस्याओं को समाप्त करने में जे0कृष्णमूर्ति जी का शिक्षा दर्शन क्या प्रभाव स्थापित करता है ? का अध्ययन किया जा सकता है।

13. माता–पिता को प्रेरणा, सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास और शैक्षिक निष्पादन के बीच सम्बन्ध जे0कृष्णमूर्ति जी के शिक्षा दर्शन की उपादेयता पर निर्भर है, का अध्ययन किया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. जे0कृष्णमूर्ति द्वारा लिखित ग्रन्थ

2. जे0कृष्णमूर्ति विषयक ग्रन्थ

3. सहायक पुस्तकें

4. पत्रिकायें

चयनित पुस्तक–सूची

(1) जे0कृष्णमूर्ति की पुस्तकें :

1. संस्कृति का प्रश्नः कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, इण्डिया, राजघाट, फोर्ट, वाराणसी
2. शिक्षा संवाद — वही
3. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र — वही
4. ज्ञात से मुक्ति — वही
5. ध्यान — वही
6. गरूड़ की उड़ान — वही
7. हिंसा से परे — वही
8. शिक्षा एवं जीवन का महत्व — वहीं
9. आमूल क्रान्ति की आवश्यकता — वही
10. वही आदमी सुखी है जो कुछ नहीं है — वही
11. परम्परा जिसने अपनी आत्मा खो दी है — वही
12. सीखने की कला — वही
13. प्रेम — वही
14. अंतरतर का सहज प्रस्फुटन — वही
15. जीवन की पुस्तक — वही
16. कृष्णमूर्ति नोटबुक — वही
17. कमेंट्रीज आन लिविंगः कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, इण्डिया ,राजघाट फोट, वाराणसी
18. कृष्णमूर्तीज नोटबुक — वही
19. लाईफ एहेड, — विक्टर गोलेंज

20. प्रथम और अंतिम मुक्तः मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

21. जीवन भाष्य(प्रथम खण्ड एवं दो खण्ड): सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी।

22. कृष्णमूर्ति आन एजूकेशन– न्यू दिल्ली, आरियेे–छलांग मैन 1947

23. एजूकेशन एण्ड द सिगनीफिकेन्स आफ लाइफ– न्यू दिल्ली

24. सत्य एक पथहीन भूमि वही

25. स्वतंत्रता, उततरदायित्व एवं अनुशासन वही

(2) <u>जे0 कृष्णमूर्ति विषयक पुस्तकें</u> :

1. कृष्णमूर्ति– द इयर्स आफ अवेकेनिंगः मेरी लुटयेंस , कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, इण्डिया, मद्रास।

2. कृष्णमूर्ति– द इयर्स आफ फुलफिलमेंटः मेरी लुटयेंस, एवन बुक्स, न्यूयार्क।

3. जे0कृष्णमूर्तिः पुपुल जयकर, पेंग्विन बुक्स।

4. जे0कृष्णमूर्तिः रेने फाउरे, चेतना, बम्बई

5. द माइण्ड आफ जे0कृष्णमूर्तिः संपादित– लुई एस0आर0वास, जैको पब्लिशिंग हाउस, बम्बई

6. फिलोसोफी आफ जे0कृष्णमूर्तिः आर0के0श्रृंगी, मुंशीराम, मनोहर लाल, नई दिल्ली।

7. वन थाउजैंस मून्सः एच0एन0अब्राम्स।

8. द ओपेन डोरः मेरी लुटयेंस ,मुरे।

(3) <u>सहायक पुस्तकें</u> :(ओशो रजनीश की पुस्तकें)

1. ओशो शिक्षा में कान्तिः रेबल पब्लिशिंग हाउस प्रा0लि0, 50 कोरेगांव पार्क, पूना।

2. ओशो योगदर्शन : वही

3. ओशो कान्तिनादः वही

4. रमण महर्षि : आर्थर आसबोर्न, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा

5. आल्पोर्ट, जी0डब्लू ; स्टडी आफ वैलूज, बोस्टन हाटन मिटिन सी0ओ0 1931

6. बुच, एस0बी0: ए सर्वे आफ रिसर्च इन एजूकेशन, एन0सी0ई0आर0टी0, न्यू दिल्ली।

7. गुप्त, एन0एल0: मूल्यपरक शिक्षा, कृष्णवर्क्स सम0जी0रोड अजमेर।

8 जयकर, पुपुल: जे0कृष्णमूर्ति, पैग्विन बुक्स,

9. कपिल, एच0के0 अनुसंधान विधियां– आगरा 1980

10. पाण्डेय, आर0एस0 शिक्षादर्शन, आगरा 1970

11. पाण्डेय आर0एस0 मूल्य शिक्षा आगरा 1993

12. ओड, एल0के0 शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि

13. एस0जे0एस0: ग्राउण्ड वर्क आफ एजूकेशनल साइकालोजी, लन्दन

14. मुनरो, डब्लू0एल0: एनेसाय कलोणीडिया आफ एजूकेशनल रिसर्च, पैनुइन बुक्स, मिडिलसिक

15. ड्रैवर ,जेम्स, एडिकसनरी आफ सायक्लाजी; पैनुइन बुक्स, मिडिल सिकस

(4) <u>पत्रिकाये</u> :

1. परिसंवाद: कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया।

2. ओशो टाइम्स: ताओं पब्लिशिंग प्रा0लि0 पूना।

3. ज्योति शिखा: साधना फाउण्डेशन, 17 कोरेगांव पार्क, पूना

4. रजनीश दर्शन वही

5. संन्यास वही

6. भारतीय शिक्षा शोका पत्रिका: सरस्वती कुज निराला नगर, लखनऊ।